छाया

[जीवन के उतार-चढ़ाव पूर्ण दृश्यों का मानवीय धरातल पर अंकन]

लेखक

श्री मधुकर मुनिजी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर

● मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन : पुष्प 52

※ छाया : ० युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

※ द्वितीय संस्करण

※ प्रकाशक—मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर (राजस्थान)

※ वि० सं० २०४५ पौष कृष्णा १०
जनवरी 1989

※ मुद्रक—मनोहर प्रिन्टिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान

※ मूल्य—आठ रुपया 8/– Rs.

प्रकाशकीय

साहित्य समाज का दर्पण है और साथ ही मार्गदर्शक भी है। ातः प्राचीन साहित्य के आधार पर आज की भाषाओं में उदात्त ानवीय गुणों का ग्रन्थन, सुसंस्कार और चारित्र निर्माणकारी संगों का प्रकाशन तथा सात्विक भावों की प्रेरणा प्रदान करना मारे प्रकाशनों की मूल नीति है। इसी नीति पर चलते हुए हमने वचन, योग सिद्धान्त आदि से सम्बन्धित विविध विषयों के ग्रन्थों पुस्तकों का प्रकाशन किया है। उसी शृंखला में अब संस्था छाया" उपन्यास का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत कर रही है।

संस्था के प्राणभूत आधार स्वर्गीय युवाचार्यप्रवर श्री मधुकर निजी द्वारा निर्देशित मार्ग एवं वरद आशीर्वादों से संस्था निरन्तर ाति कर रही है और पूर्व प्रकाशित अप्राप्य साहित्य के साथ-ाथ नवीन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील है।

मुद्रण सामग्री के बढ़ते जाते मूल्यों के कारण आजकल लागत फी बढ़ती जा रही है। लेकिन सहयोगी बन्धुओं की उदारता के रण अभी भी संस्था लागत से कम मूल्य में पाठकों के लिये हित्य प्रकाशन करने में समर्थ हो रही है। अतः हम आर्थिक योगी बन्धुओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए पाठकों यह आशा करते हैं कि वे साहित्य के प्रचार प्रसार में महत्त्वपूर्ण ादान देकर हमें नये-नये साहित्य के प्रकाशन की प्रेरणा दें।

स्वर्गीय सुश्रावक श्री चांदमलजी विनायकिया की पुण्यस्मृति उनके सुपुत्रों की ओर से "छाया" के इस द्वितीय संस्करण के ाशन में आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। एतदर्थ संस्था उनका न्यवाद आभार मानती है।

उत्तमचन्द मोदी

मंत्री,

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर

श्री चाँदमलजी विनायकिया की पुण्य-स्मृ[ति]

परिवार की ओर से अर्थसहयोग

व्यक्ति शरीरतः नश्वर है, किन्तु सद्गुण, सत्कार्य [illegible] कीर्ति को अमर रखते हैं। स्वर्गीय श्री चांदमलजी वि[illegible] अपनी कार्यनिष्ठा, सूझ-बूझ एवं सरलता [illegible] द्वारा अमर हैं।

स्व० श्री विनायकियाजी का जीवन सरलता और [illegible] शालीनता का संगम था। वेशभूषा सादी और विचार [illegible] आस्तिकवादी थे। स्वयं के प्रयत्नों एवं आदर्शों से [illegible] से नैतिक धर्म के प्रति आस्था जन-जन में जगाई थी। [illegible] धार्मिक कार्यों में मुक्त हस्त से स्वयं भी सहयोग देते थे और [illegible] को भी प्रेरित करते थे। प्रतिदिन [illegible] सामायिक करना [illegible] नियम था। किसी भी परिस्थिति में हो, कहीं भी हो, [illegible] नियम कदापि भंग नहीं होता था। प्रत्येक [illegible] उपवास करने की आपकी प्रतिज्ञा थी।

आप [illegible] प्रकाशन समिति ब्यावर के प्राय [illegible] वर्षों से सदस्य थे। जिस सेवाभावना और लगन से आगम-प्रकाशन के [illegible] [illegible] योगदान दिया, उसे शब्दों द्वारा प्रकट करना असम्भव [illegible]

धार्मिक साहित्य के प्रति आपकी गहरी रुचि थी। [illegible] की स्मृति में जैन सिद्धान्तशाला [illegible] [illegible] साध्वी, वैरागी, वैरागिनों के लिए जैन [illegible] सिद्धान्त, न्याय, दर्शन आदि के अध्ययन की सुन्दर व्यवस्था [illegible]



स्व. श्री चांदमलजी विनायकीया

श्री विनायकियाजी के संक्षिप्त परिचय के लिये यह संकेत ाप्त है कि उदारहृदय, ज्ञानप्रेमी, साहित्यानुरागी धर्मनिष्ठ ावक थे।

श्री चांदमलजी की धर्मपत्नी भी धार्मिक प्रवृत्ति की सरलमना ाविका हैं। आपके पांच पुत्र हैं—सर्व श्री शांतिलालजी, कांति-लजी, ज्ञानचन्दजी, किस्तूरचन्दजी, गणेशमलजी। आपकी दो ुत्रियां हैं—पद्माकुँवर, मधुकुँवर।

यह पुत्र-पौत्रादि से भरा-पूरा विनायकिया-परिवार धार्मिक चार-विचारों से सम्पन्न, सुशिक्षित एवं सुसमृद्ध है। अपने ताजी श्री की तरह ही पुत्र आदि पारिवारिक जन धार्मिक व माजिक कार्यों में सहयोग देने के लिये तत्पर रहते हैं।

श्री चाँदमलजी की पुण्य स्मृति में उनके परिवार ने इस तक के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। संस्था नके इस सहयोग के लिये आभारी है। आशा है कि भविष्य में इसी प्रकार से संस्था को सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
ब्यावर

छाया की प्रतिच्छाया

(प्रथम संस्करण से)

एक भजन का पद है—

यह जीवन है एक छाया रे
नर, क्यों भरमाया रे !
यह छाया पूरब में ढलती, कबहु पच्छिम में है बढ़
छिन-छन बढ़ती-घटती रहती, त्यों चंचल जग की माया
यह जीवन है एक छाया

छाया उतार-चढ़ाव की प्रतीक है। क्षण-क्षण परिवर्तनशी और चंचलता का रूप है और साथ ही रूप का प्रतिरूप भी

चढ़ती और ढलती धूप के साथ छाया भी कभी दीर्घ बनती है और कभी घटकर, सिमट कर बौनी हो जाती जीवन में सुख, सफलता, वैभव, प्रतिष्ठा, कभी अया अकल्पित हो प्राप्त होते हैं, और इतने विपुल रूप में होते हैं कि मनुष्य उनकी कल्पना भी नहीं कर सकता, कभी अचानक अचिंतित रूप में लुप्त भी हो जाते हैं कि नामनिशान भी नहीं बचता। यही छाया का खेल है। भाग्य की क्रीड़ा भी कहते हैं और कर्मों का खेल भी। हर जीवन में, हर प्राणी के साथ होता है। मनुष्य का जीव इसी छाया का खेल है।

'छाया' उपन्यास एक ऐसे जीवन की कहानी है, कभी वैभव, सम्मान और सुख की सुनहरी धूप चमकती वासन्ती सुषमा गमकती रहती थी, तो कभी इकलौती सन्ता

बेचने की करुण स्थिति भी आई, खानाबदोश की तरह दर-दर भटक कर दो जून रोटी कमाने की हालत भी हो गई। वसन्त और पतझड़, धूप और छाया चक्र की तरह घूमते रहते हैं। फिर चक्र पलटता है। दुःख की काली छाया सुखों की सुहानी शीतल छाया बन जाती है, बिछुड़े माता-पिता-पुत्र फिर मिलते हैं और जीवन में फिर से पतझड़ के बाद वसन्त चहक उठता है।

जीवन का यह विचित्र परिवर्तन, उतार-चढ़ाव मनुष्य के लिए अभिशाप नहीं, वरदान माना गया है। सुख-दुःख की ठोकरें खाकर ही मनुष्य सावधान बनता है, अनुभवी होता है। जैसे अग्नि के ताप से जमा हुआ घी पिघल कर तरल हो जाता है, वैसे ही दुःखों व विपत्तियों के ताप से मनुष्य की प्रतिभा स्फुरित होती है, विवेक और साहस जागृत होता है। सहिष्णुता और तितिक्षा शक्ति का विकास होता है।

प्रस्तुत उपन्यास के पात्र श्रेष्ठीदंपत्ती जिनदास, भानुमती हैं, जिनका प्रौढ़ वय तक का समय, सुखों की शीतल छाया में बीत कर एक प्रकार से (जड़) जाम हो गया था। अचानक दुर्दैव की प्रताड़ना, दरिद्रता आती है, पर वे इस दरिद्रता की चोट से आहत नहीं होते, साहस और शौर्य बटोरकर उसका सामना करते हैं, जन्मभूमि छोड़कर गांव-गांव, नगर-नगर भ्रमण करते हैं और कठोर श्रम करके जीवन का असली स्वाद चखते हैं, पसीने की कमाई का आनन्द अनुभव करते हुए समतापूर्वक जीते हैं।

श्रेष्ठी का पुत्र रत्नपाल, जो माता-पिता द्वारा कर्ज की अदायगी के रूप में श्रेष्ठी मन्मन के घर बंधक रूप में रखा जाता है, वह भी विद्याध्ययन करके जब स्व-स्थिति से परिचित

होता है, तो मन्मन के स्वार्थ-मिश्रित प्यार और अनीति से प्राप्त सुख-साधनों को ठोकर मारकर अपने पुरुषार्थ का चमत्कार दिखाता है। स्वयं की प्रतिभा के बल पर पसीना बहाकर लक्ष्मी का उपार्जन करता है, माता-पिता का कर्ज चुकाता है, स्वयं बन्धन-मुक्त होकर परम्परागत कुलगौरव को फिर से दीप्त करता है, और विदेश में बे-पता-माता-पिता की खोज करता है।

रत्नपाल को रत्नवती नाम की जीवन-संगिनी मिलती है, वह भी प्रखर बुद्धिमती, चतुर और साहसी थी। अपने बुद्धि-कौशल के बल पर अकेली ही योगी वेष में देश-विदेश-पर्यटन करती हुई सास-ससुर की खोज करती है। बेईमान और शोषण करने वाले व्यापारी के चंगुल से श्वसुर की श्रमार्जित पूँजी वापस प्राप्त करती है और बड़ी चतुराई से बिछुड़े माता-पिता-पुत्र को मिलाती है। जीवन में पट-परिवर्तन होता है। दुःख की छाया ढलती है, सुख की धूप निकलती है या यों कहिए-जो छाया पीठ-पीछे चली गई थी वह फिर से लौटकर सामने आ जाती है। और जीवन में फिर से सुख, वैभव, प्रतिष्ठा का प्रकाश फैलता है। छाया का यह खेल बदल जाता है।

आधुनिक जीवन-स्थितियों मे प्रस्तुत उपन्यास कई संके देता है। धनिकों द्वारा निकृष्ट रीति का शोषण, शिथिल प्रशास में लूट-मार, ठगाई का बोलबाला, तथा साहसी और बुद्धिमा युवकों का आत्म-गौरव के साथ स्व-श्रम पर प्रतिष्ठा औ वैभव प्राप्त करना, नारी द्वारा पुरुष की सच्ची सहचरी औ श्रेष्ठ वामांग (Better Half) होने का प्रमाण, माता-पिता के प्रति पुत्र का कर्तव्य आदि अनेक वर्तमान समस्याओं का समाधान प्रस्तुत उपन्यास में मिलता है, आवश्यकता है स्पष्ट और सुलझी हुई दृष्टि से देखने की।

रत्नपाल का यह चरित्र जैन साहित्य में काफी प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहा है। इस पर रत्नशेखरसूरि, श्री भानुचन्द्र-गणि एवं सोममण्डनगणि ने संस्कृत में ललित सुन्दर रचनाएँ की हैं। कविवर श्री मोहनविजय जी ने गुजराती में एक सरस काव्य की रचना भी की थी। पश्चात् गुजराती, राजस्थानी में भी इस पर अनेक चौपाई व ढालें बनीं। वर्तमान में मुनि नथमल जी महाप्रज्ञ ने संस्कृत में तथा श्रीचन्दन मुनि ने इसे प्राकृत-गद्य काव्य का विषय बनाया है।

आधुनिक हिन्दी में औपन्यासिक शैली में 'छाया' नाम से मैंने यह प्रेरक घटनावृत्त प्रस्तुत किया है।

मेरे लेखन-संपादन में परम प्रेरणास्रोत शासनसेवी पूज्य बड़े गुरुभ्राता उपप्रवर्तक स्वामी श्री बृजलाल जी महाराज का वरद हस्त सदा मुझ पर रहा है, उन्हीं की स्नेहमयी प्रेरणाओं से मैं इस दिशा में गतिशील रहा हूँ। अतः उनका उपकार-स्मरण मेरा पवित्र कर्तव्य हो जाता है। साथ ही सेवा-भावी शिष्य श्री विनय मुनि 'भीम' और महेन्द्र मुनि की सेवा-विनय-भक्ति का सहयोग भी मुझे मिल रहा है, उनको विस्मरण कैसे कर सकता हूँ?

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी लेखक श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का स्नेह व आत्मीय-भाव पूर्ण सहकार मेरी 'साहित्य यात्रा' में सहयोगी रहा है, उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन मात्र औपचारिकता होगी।

मुझे विश्वास है, पाठक पिछले उपन्यासों की भांति इसे भी भाव पूर्वक पढ़ेंगे और उदात्त गुणों की प्रेरणा लेते रहेंगे।

—मधुकर मुनि

छाया

1

श्रेष्ठी जिनदत्त और मन्मन थे तो बालसखा, पर अब तो
मलना-जुलना भी नहीं हो पाता था। दोनों की गणना पुरिम-
ाल नगर के परिगणनीय श्रेष्ठियों में थी। दोनों बहुत धनी-
रवपति थे और दोनों ही अब अपने-अपने व्यापार-वाणिज्य
था अर्जन-उपार्जन में ऐसे फँसे थे कि मिलना नहीं हो पाता
ा। समय दोनों के पास बराबर था। सभी के पास बराबर
मय ही होता है। रात-दिन की पूँजी सभी के पास समान रूप
होती है। फिर भी इन दोनों मित्रों के न मिल पाने का कारण
नय की कमी थी। जिनदत्त और मन्मन का ही नहीं, पुरिमताल
सभी श्रेष्ठियों का यही हाल था कि कार्याधिक्य के कारण
पस में बहुत कम मिल-बैठ पाते थे। पारिवारिक उत्सव-
योजन में ही प्रायः सब मिल-बैठ पाते थे। पर जिनदत्त और
मन तो इस बात में भी समान थे कि उनके यहां परिवारोत्सव
कोई अवसर अब शेष नहीं रह गया था, क्योंकि दोनों ही
संतान थे। जब इन दोनों में से किसी के यहां भी पुत्र या
का जन्मोत्सव ही नहीं मना तो फिर वहां विवाहोत्सव की
ा भी क्या थी?

जिनदत्त और मन्मन साथ-साथ पढ़े थे। साथ-साथ ही खेले-
भी थे। मित्रता मन मिल जाने के कारण तो होती ही है,
न स्तर के कारण भी होती है। जिनदत्त-मन्मन—दोनों ही

धनी थे, इसलिए दोनों का स्तर समान था। विवाहित होने बाद संयोग से यह समानता भी हो गई थी कि दोनों निस्संत भी थे और कुलसूर्य पुत्र के लिए दोनों ही तरसते भी थे।

यह आवश्यक नहीं कि दो मित्रों में स्वभाव व गुण की स समानताएं हों। कुछ समानताओं के बावजूद बहुत-सी भिन्नता और विपरीत गुणों के होते हुए भी मित्रता बनी रहती है। यदि विपरीतताओं को देखें तो जिनदत्त - मन्मन में बहुत विरोधी गुण भी थे। जिनदत्त उदार, धर्मप्रेमी, दयालु, परो कारी, दृढ़व्रती श्रावक, दानी और अपने श्रेष्ठि - समाज का सि मौर था। जन-जन उसे चाहता था। जिसने उसे कभी नहीं दे था, वह भी उसके नाम से परिचित था, क्योंकि पुरिमताल न में अनेक ऐसे पौषधगृह थे, जिनका निर्माता जिनदत्त था स्थान - स्थान पर लगे प्रस्तरखण्डों पर अभिधा जिनदत्त वीथ जिनदत्त पांथागार, जिनदत्त दानशाला, जिनदत्त सेवाकुंज, जि दत्त जलकुटीर, जिनदत्त पथ अंकित था। यों कहें कि श्रेष्ठि जिनदत्त का यश पुरिमताल नगर में फैला था। उसके बनव हुए और उसके नाम से चलने वाले अनेक राजमार्ग, वीथि पांथागार, दानशालाएँ, सदाव्रत, जल - कुटीर (प्याऊ) और जाने क्या - क्या थे ?

इसके विपरीत मन्मन की धनराशि उसके भवन और में ही सीमित थी। वह प्रथम श्रेणी का अनुदार, काइयां, चालाक, एक-एक मेंमुदी को दांत से पकड़ने वाला महा था। उस युग में प्रचलित सिक्के की सबसे छोटी इकाई में का दान भी उसने अपने जीवन में कभी नहीं किया था। इन मित्रों के स्वभाव में यही महत्त्वपूर्ण अन्तर था। पर कहावत

यही चली आती है कि 'यार की यारी से मतलब, उसके गुण-अवगुणों से क्या लेना - देना ?" इसी कहावत को चरितार्थ करने वाली मित्रता थी जिनदत्त और मन्मन में।

पुरिमताल बहुत बड़ा नगर नहीं था पर था बहुत सुन्दर और सुहावना। सागर के तट पर बसा था यह नगर। पर्वत की उपत्यकाओं ने भी इसके सौन्दर्य को बढ़ाया था। किसी भी भवन की सबसे ऊँची मन्जिल पर चढ़कर देखो तो चारों ओर हरीतिमा फैली दीखती थी। इस विपुल वनशोभा के अतिरिक्त राजा - प्रजा द्वारा लगाये गये अनेक छोटे - बड़े उद्यान भी नगर के सौन्दर्य को बढ़ाते थे। कौमुदी महोत्सव, वसन्तोत्सव आदि विभिन्न सामूहिक उत्सव-आयोजनों के लिए जो राजकीय उद्यान था, उसकी विशालता और सुन्दरता तो देखते ही बनती थी। हरी घास की लम्बी-चौड़ी चादर-सी इस उद्यान में बिछी रहती थी। आम्र, ाम्बु, अनार, अंजीर, शहतूत, आदि अनेक प्रकार के फलों के संख्य वृक्ष थे। करौंदा-करील की झाड़ियाँ भी थीं। पीपल, ाखर, शीशम, गूलर आदि के वृक्ष थे और सैकड़ों वर्ष पुराने घन-शीतल छाया वाले वट-वृक्ष भी थे, जिनके छोटे - छोटे लाल फलों को देखकर दूर से ऐसा भ्रम होता था, मानो लाल चोंच ाले असंख्यों शुक मौन साधे बैठे हों। पँचरंगी पुष्पों से फूले-सजे ुष्पपादपों की शोभा तो सबसे निराली थी। इस विशाल उद्यान ें पचास - बावन जल-विहार कुण्ड थे जिनमें स्वच्छ-निर्मल नीर रा रहता था। जलकुण्डों का तल और दीवारें नीले रंग से ती होने के कारण जल का नीलाभ सौन्दर्य गगननीलिमा की ोड़ करता था। इन कुण्डों में लाल कमल खिले रहते थे, जिन र काले - कलूटे होते हुए भी सुन्दर लगने वाले भौंरे गुन - गुन-

गुंजार करते थे। पक्षियों के कलरव के साथ ही शान्ति का साम्राज्य इस उद्यान में था।

पुरिमताल नगर के राजपथ चौड़े और साफ-सुथरे थे। दोनों ओर किनारे-किनारे थोड़ी-थोड़ी दूर पर छायादार वृक्ष इन राजपथों पर थे। इनसे पथ पर जीवन के सुख-दुखों की समता करने वाली धूप-छांव रहती थी। हर-वस्तु के अलग-अलग बाजार थे पुरिमताल में। रत्नचौक में सभी तरह के रत्नों और आभूषणों की विपणियां थीं, इनमें अठारह विपणि तो जिनदत्त की ही थीं।

पुरिमताल नगर में सभी वर्गों के लोग रहते थे। मूंज, सन की रस्सी बटकर गुजर करने वाले लघु उद्यमी मजदूर थे, तो जंगल से लकड़ी काटकर बेचने वाले लकड़हारे भी थे। क्रिया-प्रतिक्रिया तथा 'दिया दूर नहीं जात' के रहस्य के जानने वाले तत्त्वज्ञ किसान भी पुरिमताल में थे, जो अपने खेतों में जितना डालते थे, उससे सहस्रों गुना अन्न प्राप्त करते थे। इन्हीं ...नों से तो यहां के दानवीर श्रेष्ठियों ने यह सीखा था कि जब मिट्टी इतनी उदार हो सकती है कि थोड़े-से दानों के बदले सहस्रों गुना अन्न देती है तो धर्म-पुण्य के निमित्त किया गया दान क्यों न हमें हजारों गुना देगा? मन्मन जैसे कृपण-कंजूस श्रेष्ठियों के मुकाबले तो जिनदत्त जैसे दानशूर श्रेष्ठी ही चतुर थे जो थोड़ा-सा देकर परलोक के लिए सहस्रों गुना जमा कर रहे थे। वस्तुतः तो कृपण-कन्जूस ही परोक्ष दानी होते हैं क्योंकि अपने जीवन-काल में न तो वे अच्छा खाते हैं और न किसी को देते हैं, पर मरने के बाद सहज ही उनका समस्त संचित धन दूसरों का हो जाता है। संभवतः अज्ञान-दान का यह रहस्य उन्होंने मूर्ख मधुमक्खियों से सीखा हो।

इन सबके साथ ही गाथापति, पण्डित, शास्त्रज्ञ और वेदपाठी विप्र भी पुरिमताल में रहते थे। लेकिन अधिकता तो लक्षाधिपति, कोटीश्वर, अरबपति और खरब स्वामियों की थी। पशु-पालन, ऊन, रेशम, किराना, रत्न आदि का व्यापार करते थे यहां के श्रेष्ठी। समुद्रपार के द्वीपों में पुरिमताल का माल बिकने जाता था। वनमार्ग से होकर भी यहां के व्यापारियों के सार्थ दूरस्थ देशों को जाते थे।

पुरिमताल की समस्त प्रजा सुखी थी और धर्म में रुचि रखती थी, क्योंकि यहां का राजा प्रजावत्सल और सुशासक था तथा उसी ने प्रजा को धर्मपालन और चरित्रनिष्ठता का अनुकरण दिया था। शूरसेन नामक पुरिमताल नगर का राजा यथानाम तथागुण—वीर और पराक्रमी राजा था। उसके शौर्य-बल के कारण उसके राज्य की सीमाएँ सुरक्षित थीं। शत्रु राजा कभी भी उसकी ओर देखने का साहस भी नहीं करते थे। वह युवा, सुन्दर, कुशलधन्वी, दीन-हीन प्रतिपालक और चारों गुणों से मण्डित वीर था, अर्थात् युद्धवीर के साथ दयावीर भी और धर्मवीर तथा दानवीर भी था राजा शूरसेन।

संक्षेप में पुरिमताल नगर सुन्दर-सुहावना; यहां की प्रजा सुखी-सन्तुष्ट और देशभक्त, यहां के धनी दानवीर और परोपकारी तथा राजा प्रजावत्सल, सुशासक और न्यायपरायण था। इसके साथ इतना और कि श्रेष्ठि समाज का अग्रणी जिनदत्त सबका जाना-पहचाना, मिष्टभाषी, धर्मी-कर्मी और भाग्य के अधीन रहने वाला पुरुषार्थी था।

× × ×

श्रेष्ठिवर जिनदत्त की प्रिया थी भानुमती। मानवी के

शरीर में भानुमती अप्सरा-सी थी। रूप-गुण का उसमें मणि
कांचन संयोग था। वह सरस्वती-सी बुद्धिमती, मधुर स्वभाव वाल
और आर्य बाला के समस्त गुणों से मण्डित थी। सदा पति
अनुकूल रहती थी। उस जैसी पतिव्रता सन्नारी को पाकर जिन
दत्त धन्य था और स्वदार संतोषव्रत के पालक जिनदत्त जैसे प
को पाकर भानुमती सेठानी भी सार्थक सौभाग्यवती थी। दो
में अनन्य प्रीति और परस्पर पूर्ण विश्वास था। घर में यही
प्राणी थे। इनका विवाह हुए वर्षों हो गये थे और नित-नूत
बनी रहने वाली प्रीति के कारण लगता था, जैसे विवाह ह
कुछ ही दिन बीते हैं। जिनदत्त के कनक-भवन में अनेकों द
थे। दासियां थीं। भानुमती के मधुर स्वभाव ने इन सब
हृदय भी जीत लिया था। वह कभी अपने सेवकों को डांट
फटकारती नहीं थी। जिनदत्त और भानुमती सरल स्वभा
थे। उनके पड़ौसी अपने को धन्य मानते थे कि हमें ऐसे
दम्पती का पड़ोस मिला। पड़ोस के महत्त्व को बताने वा
यह बात जग जाहिर है कि दुष्ट रावण के पड़ौस में रहने
कारण ही तो सागर को राम के द्वारा बन्धना पड़ा था। इसी
लोग विधाता से दुष्ट पड़ौस की अपेक्षा नरक का वास मां
हुए कहते हैं कि 'दुष्ट संग नहि देहि विधाता। वरु भल
नरक कर वासा।'

भले के लिए बुरे भी भले हो जाते हैं, भले तो भले ही हैं। यदि जिनदत्त-भानुमती अपने पड़ौसियों के लिए थे तो उनके सभी पड़ौसी भी इनके लिए भले थे। एक वृद्धा तो जिनदत्त को अपना पुत्र और भानुमती अपनी पुत्रवधू ही मानती थी। इस वृद्धा के अपना कोई

था, और उसका अपनत्व अभाव जिनदत्त - भानुमती ने पूरा कर दिया था।

जिनदत्त-भानुमती में पुण्य सहयोग से धार्मिक ऐक्य भी था। दोनों साधु - दर्शन करते। नियमित धर्म - क्रियाएं करते। वे सब भांति सुखी थे। कनक पत्तरों से जड़े कपाटों वाला जिनदत्त का कनकभवन सात मन्जिल का था। कुछ कक्ष और दीवारें महोदधि (अरवसागर) की वड़ी-वड़ी सीपियों से वनी थीं। रजत - सुवर्ण मण्डित कक्षों के अतिरिक्त मणिमय प्रांगण, रत्नजटित भित्तियों वाला जिनदत्त का भवन राजभवन की वरावरी करता था। संसार का कोई भी भौतिक सुख ऐसा न था, जो इस श्रेष्ठि-दम्पती को प्राप्त न हो। दोनों का धर्ममय जीवन वड़े सुख से बीत रहा था।

नित-नूतन बनी रहने वाली प्रीति के कारण यदि श्रेष्ठि-दम्पती को ऐसा लगता था कि हमारे विवाह को कुछ ही दिन हुए हैं तो कभी-कभी दोनों आपस में इस तरह की बातें भी करते-सोचते कि हमारे विवाह को वर्षों हो गए। ऐसा सोचकर भानुमती तो कभी - कभी बहुत खिन्न हो जाती थी। अपनी गोद सूनी देखकर ही भानुमती सोचती थी कि हमारे विवाह को वर्षों हो गये और घर में अभी तक अन्धेरा है। यह अन्धेरा कब तक रहेगा ? कुलदीपक के विना तो रत्नजटित भवन भी अन्धेरा रहता है। एक दिन जव वह बहुत खिन्न-विमन हुई तो श्रेष्ठी जिनदत्त ने समझाया—

"प्रिये ! किसी के जीवन में सर्वांश अनुकूलता दैव कभी नहीं रहने देता। भाग्य में होगा तो पुत्र कभी तो होगा और

यदि हमारे हाथों में विधि ने पुत्र की रेखा नहीं खींची है त
यों उदास-विमन होने से भी नहीं होगा।

"प्रिये ! ऐसे भी तो जगत में है, जिनके घर में बालक हैं पर वे अपनी तुतली वाणी द्वारा माता - पिता को मुदित नह करते, बल्कि क्षुधा-पीड़ित वे बालक दूध के लिये रोते हुए अप माता - पिता के मन में विषाद भर देते हैं । सभी अनुकूलता किसी को नहीं मिलतीं। किसी के बच्चे हैं तो खाने-पहनने व नहीं और जिसके अपार धन है, उसके घर कुलदीपक नहीं मेरे बालसखा अरबस्वामी श्रेष्ठी मन्मन को देख लो। व भी निस्संतान है, उसका विवाह तो मुझसे एक वर्ष पहले हुआ था।

भानुमती ने जिनदत्त की धैर्य दिलाने वाली बातें बड़े ध्या से सुनी और वह संयत हुई। फिर कुछ सोचकर बोली --

"स्वामी ! धनहीन माता - पिताओं के अर्द्धनग्न रहने वा और दूध के लिए रोने वाले बच्चे भी अपने जनक का नाम चलाते ही है। वंश-भास्कर के बिना वंश तो डूब जाता है इसके लिए यदि हमारे पुत्र न हो तो क्या हमारा जीवन ज रहित बादल, सुवासहीन पुष्प और वारि बिन जलाशय की त व्यर्थ नहीं है ?"

धैर्यनिपुण जिनदत्त ने अपनी प्रिया भानुमती का दक्षि कर अपने हाथ में लिया और उसकी मुद्रिका शोभित अंगुली प हाथ फेरता हुआ बोला --

"प्रिये ! यह भी लोक का भ्रम ही है कि पुत्र से पिता व नाम चलता है। नाम तो अपने कर्मों से चलता है। हमारे तीर्थंकरों के तो कोई भी पुत्र नहीं था। फिर भी वे अ

नाम से अमर हैं और आत्मरूप में तो परमात्मा होकर अमर हो ही गए हैं।

"प्रिये ! किसी को पता नहीं होता कि पुत्र कैसा होगा ? कुपुत्र तो अपने पिता के नाम को डुबोता ही है । पुत्र होने पर भी नाम डूबता है और पुत्र न होने पर भी लोकाकर्षक कार्यों से नाम चलता है। अतः नाम और वंशवृद्धि की बातों का विचार कर अपना मन दुखी मत करो।"

इन बातों से भानुमती आश्वस्त हो गई । दुःख का आवेग आँधी के झोंके की तरह यदि झकझोरता है तो शीघ्र ही अपने प्रभाव से जगत को शून्य करके चला भी जाता है। भानुमती का दुखावेग भी शान्त हो गया। निश्चित और दीर्घ अभाव को सहने की शक्ति भी दैव ही देता है। भानुमती भी भूल गई पुत्र के अभाव को । फिर तो जीवन का एक ढर्रा बन जाता है। जिस अभाव को सहने की आदत पड़ जाती है, उसकी याद क्या रोज-रोज आती है ? नहीं आती । जिनदत्त और भानुमती को भी नहीं आती थी। जीवन के अन्य सभी सुख तो उन्हें भाग्य ने दिये ही थे। इन सुखों को भोगते हुए जिनदत्त-भानुमती धर्म का स्मरण करते हुए सुख से जी रहे थे।

× × ×

आज सभी में एक विशेष उत्साह है; विशेषरूप से बच्चों और महिलाओं में। बड़े-बूढ़ों में तो मेला-तमाशा देखने का उत्साह नहीं होता और इच्छा भी नहीं होती । ऐसे व्यक्ति जो बड़े तो हैं, पर बूढ़े नहीं, उन्हें अवकाश ही नहीं है, कहीं जाने का। व्यापारी व्यापार से फुरसत नहीं पाते और मजदूर मजदूरी करने चले गए हैं इसलिए टोल-की-टोल स्त्रियां ही सज-धज

कर चौराहे पर इकट्ठी हो रही है। आज कौमुदी महोत्सव का पहला दिन है न, इसीलिए पुरिमताल नगर में इतनी चहल-पहल है। पांच दिन तक यह उत्सव चलेगा। निठल्ले पुरुष-छोकरे, तरुण भी भारी संख्या में जा रहे हैं, पर वे दूसरे पुरुष-पथ से होकर गुजर रहे हैं।

स्त्री-वच्चों के इकट्ठे होने का चौराहा, जिनदत्त के भवन के निकट ही है। मध्याह्नोत्तर वोला—तिपहरी का समय है। सब कामों से निवृत्त होकर सेठानी भानुमती तीसरे खण्ड के गवाक्ष में वैठी इस चहल-पहल को देख रही है। कोई जोर से वोलती है, तो उसकी वातें भी सुन लेती है, भानुमती।

एक आई। आते ही वोली—

"चम्पा! तू बड़ी जल्दी चली आयी? मैं रोकती रही, तू रुकी भी नहीं।"

चम्पा वोली—

"देर तो तूने ही कर दी अनोखी! क्या करती रही अब तक?"

"करती क्या, यह नटखट तो पैदल चलता ही नहीं, इसे लेकर गोद में चलना एक मुसीवत है।"

चम्पा मुस्कुराई। वोली—

"मुसीवत तो है ही अनोखी! पेट वाले को लेकर भी तो चलना पड़ता है।........अरी, मेरा यह तो छह साल का है। प मचलता ऐसे है, जैसे साल भर का हो। मैंने वहुतेरा समझाया कि अनोखी मौसी को आने दे, पर मचल गया कि जल्दी चलो जल्दी चलो। इसीलिए तो मैं यहां आकर रुक गयी। अभी तो वहुत आ रही हैं।"

"बहुत आ रही हैं चम्पा, पर लौट भी तो बहुत रही हैं। इसे हाथी का खिलौना दिलवा दूँ। चल, अब तो चल।"

"चलते हैं अनोखी!" चम्पा बोली—"राधा और ललिता को भी आ जाने दे। नहीं तो फिर वे भी तेरी तरह उपालम्भ देंगी।"

चम्पा और अनोखी ललिता-राधा सखियों की प्रतीक्षा करने खड़ी हो गयीं। यह स्थान ममता और वात्सल्य का संगम-सा हो गया। कोई माता अपने रोते बच्चे के मुँह में मिठाई देकर उसे चुप कर रही थी। कोई दूर खड़ी होकर कह रही थी—"अच्छा, दौड़कर मुझे पकड़ ले, तब गोद में लूंगी।" गोदलिप्सा के कारण बालक ठुमक-ठुमक कर दौड़ता और माता धीरे-धीरे पीछे खिसकती जाती। बालक जितना आगे बढ़ता उसकी माता की गोद उतनी ही दूर हो जाती। फिर तो बालक मचल ही गया। जिद कर बैठा और बैठ गया। विवश होकर वात्सल्यमयी माता को बालक के पास आना पड़ा और उसने उसे लेकर ऊपर उछालकर कहा—

"अच्छा, अब आगे उतर जाना। तब मैं तेरी अँगुली पकड़ लूँगी।"

बालक ने अपने पैंतरे से मां का दांव काटा—

"तो तुम मेरे लिए बहुत-से खिलौने ले दोगी?"

"हां-हां बहुत-से लूँगी।" यह कहते हुए माता ने बालक का चूम लिया।

एक माता ने अपने लाड़ले को धमकाया—

"देख, रोयेगा तो यह बाबाजी पकड़ लेगा।"

सचमुच ही बालक जटाधारी बाबा को देखकर चुप हो गया। कोई छोटे-से शिशु को चूमती हुई चल रही थी। कोई माता खड़ी-खड़ी अपने लाड़ले के हाथों से कबूतरी को दाना चुगवा रही थी।

भानुमती माता-पुत्रों की अनोखी मोदकारी साकार छवि को देख रही थी। देखते-देखते उसके धीरज का बाँध टूट गया। आँखें भर आयीं और टप-टप आँसू गिरने लगे। उसके वात्सल्यरस के मातृत्व सरोवर में करुणा-सागर उमड़ चला। आँखें गंगा-जमुना बन गयीं। सोचने लगी भानुमती—'हा कन्त! तुम मुझे दिलासा देकर बहलाते हो, पर मैं कैसी अभागिन नारी हूँ। ये माताएं कितनी धन्य हैं! मैंने व्यर्थ ही नारी-देह पायी। जो नारी माता न बने, वह भी कोई नारी है? पिता का नाम सन्तान से ही चलता है, यह बात भी समझ में आ गयी। पर मेरे वक्ष प्रदेश में कभी क्षीर-सागर नहीं उमड़ेगा और मैं कभी ममता का आनन्द लिये बिना कैसे जीवित रह सकूंगी! मेरे भी कोई पुत्र होता तो मैं भी उसे लेकर कौमुदी महोत्सव के मेले में जाती, उसे ऊपर उछालती, चूमती, गोद में लेकर चलती और न जाने क्या-क्या करती?"

भानुमती की खिन्नता तो हमने स्पस्ट देख ली। इस पुरिमताल नगर में ऐसी अनेक माताएं भी थीं, जो पुत्रों के होते हुए भी खिन्न होकर सोच रही थीं— 'इसे मेले में कैसे ले जाऊं? नये कपड़े पहनने को मचल रहा है और पास में साबुत-पुराने भी नहीं है। मिठाई खरीदने को एक मेंमुदी तक नहीं। निष्ठुर देव! तू पुत्र देता है तो उनके रुदन को हास्य में बदलने के लिए धन क्यों नहीं देता?'

ऐसी निर्धन महिलाएँ भी मेले में नहीं जा रही थीं और
नवती भानुमती पुत्रहीन होने के कारण मेले की वहार देखकर
ो रही थी। क्योंकि रूठते-मचलते और किलकारियां भरते वालक
ी आज मेले की वहार थे और पुत्रवती माताएँ इस वहार की
ाश्रय थीं। रोती रही भानुमती। पर कव तक रोती ? उसके
ाँसू तो सूख गये, पर गोरे कपोलों पर अपने चिह्न छोड़ गये और
ाँखों में सूनापन भी।

जिनदत्त ऊपर पहुंचा। उसने आज पहली वार अपनी प्रिया
को ऐसा उदास और दुःखी देखा था। देखा तो सिहर गया और
ोला—

"प्रिये ! आशा के विपरीत आज मैं क्या देख रहा हूं। तेरा
जिनदत्त निरा वनिया ही नहीं है, वह खड्ग चलाना भी जानता
है। वता, आज किसे मृत्यु सुखकर लगी है ? किसने तेरा मन
ुखाया है ?"

कुछ नहीं वोली भानुमती, वल्कि सिसक-सिसककर पुनः
ोने लगी। जिनदत्त ने अपने करचीर से आँसू पोंछ डाले। वक्ष
ा लगा लिया निज प्रिया को। वोला—

"मेरे मन में आशंकाएँ न भरो प्रिये ! क्या तुम्हें मेरे ऊपर
ना विश्वास अव नहीं रहा कि तुम्हारा मन दुखाने वाले को
नष्ट कर दूँगा ? तेरे मौन से तो मैं स्वयं भी वहुत दुखी हो
ाऊँगा।"

पति के प्रेमाग्रह से भानुमती को वोलना पड़ा। वोली वह—
प्राणेश्वर ! मेरे दुःख को तो आप भी जानते हैं। मेरा वह
ख आपका भी दुःख रहा है। पुत्र के विना हमारा घर-आंगन
ना है। भाग्य की प्रवलता देखकर आप धैर्य धारण किये रहते

हैं और मैं भी दिन काट रही हूँ। पर आज तो मैं नहीं स
पायी। आज जो देखा, उससे मेरी पुत्र देखने की छिपी इच्छ
चीत्कार कर उठी।

"स्वामी! आप तो दूकान पर थे। यहां बैठी मैं उन धन्
भाग्य नारियों को देख रहीं थी, जो अपने बालकों की व्याकरण
हीन तुतली वाणी सुनकर पुलकित हो रही थीं। वे स्त्रि
कितनी धन्य थीं, जो स्त्रियां होने के साथ माताएँ भी थीं औ
जो अपने धूल-धूसरित बच्चों को उसी तरह उठा लेती थीं, जै
लोभी अपने मूल्यवान वस्त्रों की परवाह किये बिना धूल में लि
हीरे को उठा लेता है।

"स्वामी! मैं वन्ध्या हूं। बंजर भूमि की तरह मेरा होन
न होना एक-सा ही है। एक पुत्र के बिना मेरा जीवन भार है
वात्सल्यरस में अवगाहन करते, जब आज मैंने पुरिमताल
नारियों को देखा तो अपने को धिक्-धिक् करके कोसने लगी
यही मेरा चिरपोषित दुःख है। अब और क्या कहूँ स्वामी?"

मिठास भरी वाणी में बोला जिनदत्त—

"प्रिये! तू तत्त्व को जानकर भी खिन्न होती है। दुःख
कारण अपने सोचने का ढंग ही है। विडम्बना यह है कि सन्
वाले भी दुःखी हैं और निस्सन्तान भी। सुख तो यहां
भी नहीं है।

"प्रिये! छठी की रात विधि देवी जो कुछ भाग्य में लि
देती है, वह अमिट हो जाता है। अपने कृत-कर्मों का फल स
भोगना पड़ता है। अब करें भी क्या? पुत्र-प्राप्ति के सभी उ
तो हमने करके देख लिये। भाग्य में नहीं था पुत्र, सो नहीं
हुआ और यदि होगा तो कभी-न-कभी तो होगा ही।

"प्रिये ! शोक त्यागो। धीरे-धीरे कृत-पाप जब नष्ट हो जायेंगे तो कभी-न-कभी पुण्यों का सूर्य भी उदित होगा और पुण्य दिवाकर की किरणों से सब अँधियारा मिट जायेगा।"

भानुमती आश्वस्त हुई। जिनदत्त ने उसकी चिबुक को छुआ और अपनी ओर उसकी दृष्टि फेरी तो भानुमती मुस्कुरा उठी। 'क्षण-क्षण पलटें रंग हजार' वाली कहावत इस जगत में खूब चरितार्थ होती है। जीवन के रंग ऐसे ही क्षण-क्षण में बदलते हैं। कुछ देर पहले का शोक अब जाने कहां चला गया? अब रसवतियां होने लगीं। जगत् में कुछ भी स्थायी नहीं; न सुख और न दु.ख। देखते-देखते तिपहरी की धूप गायब हो जाती है और सन्ध्या की सुरमई आभा तनिक देर में ही काली रात बन जाती है और फिर देखते-ही-देखते तारे डूबते हैं, प्रभात की सुनहरी किरणें बिखर जाती हैं। इसी अटल नियम के कारण भानुमती अब अपर प्रसंगों पर बातें करने लगी। वतरस से अच्छा कोई रस भी नहीं। इसमें नवरस समाहित रहते हैं। काम तो कोई था ही नहीं। पति-पत्नी दोनों वतरस में अवगाहन कर रहे थे।

जिस समय भानुमती पुत्र अभाव का स्मरण करके दुखी हो रही थी, उसी समय एक यक्ष दम्पती आकाश मार्ग से गुजर रहे थे। जिनदत्त के भवन के ऊपर ही दोनों ठिठककर रुक गए। देवी-देवों की शक्तियां अपरिमित होती हैं। इसके साथ यह भी है कि हर जाति-वर्ग में स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होती हैं। पराया दुःख उनसे नहीं देखा जाता और अपना तो सहन होता ही नहीं। यक्षिणी ने भानुमती की शोकमुद्रा को देखकर अपने पति यक्ष से कहा—

"स्वामी ! देवरमणी-सी यह बाला किस दुःख से दुखी है ? इसका भवन कितना भव्य और ऊँचा है ! इसे भला क्या दुःख हो सकता है ? जो भी हो, हमें इसका दुःख अवश्य दूर करना चाहिए।"

यक्ष बोला—

"प्रिये ! सागर में सूखा स्थान कहां मिलेगा ? यह तो संसार है। हम किस-किस का दुःख दूर करेंगे ? चलो, हम क्यों अपनी यात्रा खोटी करें।"

"नहीं स्वामी ! मैं आग्रह करती हूं कि इसके दुःख का कारण खोजो।" यक्षिणी बोली—"यदि हम न देखते, तब तो कोई बात नहीं थी। पर अब, जब एक दुखिया नारी बिल्कुल हमारी आंखों के सामने है तो यों चुपचाप खिसक जाना अनुचित है। परोपकार, दया, दान, धर्म के किंचित् पालन से नरदेही देव-भव पाता है, तो हम देवी-देव होकर परोपकार के इस संयोग-सुयोग को क्यों छोड़ें ?"

"त्रिया हठ के सामने सब हारे हैं।" यह कहकर देव मौन हो गया और अवधिज्ञान के आलोक में भानुमती का भविष्य देखने लगा। फिर सब कुछ जानने के बाद यक्षाधिपति निज प्रिया यक्षिणी से बोला—

"प्रिये ! अपने सौन्दर्य से इन्द्राणी को लज्जित करने वाली यह बाला भानुमती सन्तान दुःख से दुःखी है। इसके पुत्र तो अवश्य होगा, पर......।"

"पर वह अल्पायु होगा, यही न ?" यक्षिणी ने पूछा—"लेकिन आप इसे यह क्यों बतायें कि यह अल्पायु पुत्र की माता बनेगी। क्योंकि आयु का घटाना-बढ़ाना तो किसी के भी हाथ में

है । फिलहाल आप इसे पुत्र होने के भविष्य से ही अवगत इए, जिससे इसका शोक दूर हो ।"

यक्ष बोला—

"प्रिये ! जैसा तुमने सोचा है, वैसा नहीं है । इसका पुत्र तो यु ही होगा । बात कुछ और ही है । बात यह है कि जब मती पुत्रवती बनेगी, तब तक देखते-देखते इसके पति जिन-की सम्पत्ति नष्ट हो जायगी और इसका पुत्र भी दूसरे घर द्धि पायेगा ।

"प्रिये ! जैसे कोई किसी की आयु घटा-बढ़ा नहीं सकता, तरह किसी के भविष्य को भी कोई नहीं बदल सकता । यह तो होगा ही ।"

यक्षिणी ने आग्रह किया—

"तो फिर स्वामी ! आप श्रेष्ठिदम्पती को दर्शन देकर उन्हें होने का वरदान दीजिए ।"

यक्ष हँसा और बोला—

"प्रिये ! तुम भी वरदान की बात कहती हो ? भविष्य फल न्यथा कोई वर देव भी कैसे दे सकता है ? जिनदत्त-भानुमती गिय मैं उनका भविष्य बताऊँगा तो तुम्हारी ही तरह वे भी समझेंगे कि मैं उन्हें कोई वरदान दे रहा हूँ । पर वास्तव में, उन्हें क्या दूँगा ? मैं तो उन्हें उनका अदृष्ट भविष्य ही बता-ऊँ ।"

इधर जिनदत्त भानुमती प्रसंगान्तर करते हुए अन्यान्य मों पर बातें कर रहे थे । किसी प्रसंग में भानुमती ने —

"स्वामी ! आप तो कहते हैं कि मनुष्य विधि की लिखावट

को नहीं बदल सकता । पर मैंने तो एक ऐसी कथा प
कि एक राजा के मन्त्री ने विधि देवी को चुनौती देकर उसः
को मिटा दिया था । ऐसा क्यों हो गया ?"

जिनदत्त बोला—

"प्रिये ! तुम्हारी कथा सुनने से पहले मैं कोई टिप्पण
नहीं करूँगा । पहले तुम अपनी कथा सुनाओ । वैसे मैं त
विश्वास पर दृढ़ हूँ कि विधि की लिखावट एक धारा है
कोई भी पुरुषार्थी धारा के विपरीत नाव नहीं चला सकता ।"

"आपकी ही बात बड़ी करती हूँ ।" भानुमती बोली—
ही कोई धारा की ओर ही नाव चलाने के लिए विवश है
धारा में बहकर डूब न जाए, इसलिए नौका का सहारा ले
मनुष्य के हाथ की बात है ।"

"प्रिये ! तुम्हारी कथा सुनने से पहले ही मैं कह देता
उस मन्त्री ने भी विधि की लिखावट के सहारे चलक
कोई पुरुषार्थ किया होगा । जो भी हो, अब तुम अपनी
सुनाओ ।"

भानुमती कथा सुनाने लगी । किसी राजा का एक मन्त्री
मन्त्री बुद्धिमान भी बहुत था । संयोग से राजा और म
दोनों के यहाँ एक ही दिन और एक ही समय पुत्र जन्मे ।
का जन्मोत्सव मना । ठाठ से मना । नामकरण हुआ और
पत्र भी रचा गया दोनों के भविष्यवेत्ता पंडित ने दोनों के
पत्र में लिखा कि राजकुमार एक शिकारी होगा । शिकार
ही यह अपनी जीविका चलाएगा और मंत्री पुत्र बड़ा
लकड़हारा बनेगा । इस विचित्र-से जन्मफल को देखकर
ने नैमित्तिक से पूछा—

"ज्योतिर्विद ! ये दोनों कुमार अपने-अपने वंश-कुल के विप-
त आचरण क्यों करेंगे ? नियमतः बड़ा होकर राजकुमार
जा बनेगा और मेरा पुत्र उसका मन्त्री बनेगा। अर्थात् मेरा
मेरा बेटा लेगा और अपने पिता का राजसिंहासन राजकुमार
प्त करेगा। यही होगा, क्योंकि होना भी चाहिए।"

सब कुछ सुनने के बाद ज्योतिषी ने मन्त्री से कहा—

"मन्त्रिवर ! मोटे रूप में आपने जो कुछ कहा है, वह ठीक
कहा है। पर अपनी ओर से तो मैंने भी कुछ नहीं कहा।
धि की लिखावट को मैंने ज्योतिष की आँख से पढ़ा है और
ी लिखावट की नकल इन दोनों जन्मपत्रों में कर दी है।

"मंत्रीवर ! कृतकर्मों के आधार से ही भाग्य बनता है
र उसी भाग्य को विधि छठी की रात लिखती है। राजा
बेटा रंक बने और रंक का पुत्र राजा बने, यह सब भी
ही जाता है। विधि के लिखे को मिटाने वाला कौन है ?"

मन्त्री ने चुनौती के स्वर में कहा—

"अब आप से क्या कहूँ ? यदि अदृष्ट विधि सुनती हो तो
, मैं उसकी लिखावट को मिटा दूँगा। उद्यम, साहस, धैर्य,
, बुद्धि और पराक्रम जिसमें ये छह गुण होते हैं, उससे
य भी डरता है और विधि भी घबराती है कि मैंने यह क्या
ख डाला ?"

ज्योतिषी अपने ज्योतिष-ज्ञान को झूठा होना देखना नहीं
हता था। अतः उसने कहा—

"मन्त्रिवर ! जो नहीं किया जा सकता उसे करने की
त्वाकांक्षा रखना समय को नष्ट करना ही है। मेरी ज्योतिष

झूठी नहीं हो सकती । मैं कब चाहता हूँ कि ऐसा हो, पर हो वही जो होनहार है ।"

मन्त्री ने बात टाली—

"अभी तो दोनों बच्चे हैं । इन्हें बड़ा होने दो । तभी बत ऊँगा कि मैं विधि की लिखावट को कैसे मिटाता हूँ ?"

बात टल गयी । समय बीता । वर्षों बीत गए । राज कुमार और मन्त्रीपुत्र—दोनों सयाने हो गए । बड़े हो गए दोनों पढ़-लिख भी लिये । दोनों साथ जन्मे थे । आगे भी दोनों साथ रहना था, क्योंकि एक को राजा बनना था और दूसरे उसका मन्त्री, सो दोनों बचपन से ही गहरे मित्र थे —साथ-सा ही रहते थे । इन दोनों को अपने भविष्य की बातें मालूम न थीं । ये तो वही समझते थे. जो समझना चाहिए । कोई कारण भी ऐसा नहीं दीखता था, जिससे यह सोचा जा सके कि राज कुमार राजा न बनकर शिकारी बने और मंत्रिपुत्र मन्त्री न ब कर लकड़हारा बने । दैव अपनी इच्छा कैसे पूरी करता है, पहले से कोई नहीं जान पाता ?

एकाएक ही होनहार ने पाँसा पलट दिया । एक विदे आक्रामक राजा ने इस राजा पर आक्रमण कर दिया । रा युद्ध में मारा गया । आक्रामक राजा जीत गया और उसने घोष की कि मृत राजा का कोई हितैषी, उसका उत्तराधिका मन्त्री आदि जीवित नहीं बचना चाहिए । अब मैं यहां प्रजा पर राज्य करूँगा । मन्त्री ने यह बात सुनी तो वह अपने और राजपुत्र को लेकर रातों-रात भाग गया । जंगल ही जं तीनों भागे और एक नगर के निकट पहुँच गए । पर भाग्य तीनों को बिछुड़ा दिया । मन्त्री कहीं था, उसका पुत्र कहीं

राजपुत्र कहीं । अब विधि की लिखावट सत्य होने का समय आ गया । राजपुत्र को एक शिकारी ने सहारा दिया और मंत्रीपुत्र को एक लकड़हारे का सहारा मिल गया । वही हुआ जो उनके भाग्य में लिखा था । राजा का बेटा शिकारी बनकर अपना जीवन-यापन करने लगा और मंत्रीपुत्र लकड़ियाँ बेचकर गुजर करता था ।

लगन से मन्त्री ने दोनों को खोज लिया और बीस वर्ष पहले की विधि की लिखावट का स्मरण करते हुए सोचने लगा कि ज्योतिषी की ही बात सही निकली । विधिलेख को मैं मिटा नहीं पाया जो राजपुत्र राजा बनता, आज वह मृगवध करता है और मेरा पुत्र लकड़हारा बन गया । पर मैंने भी तो विधि-लेख को मिटाने की चुनौती दी थी तो अब मिटाऊँगा । अभी तक तो मैंने प्रयास ही नहीं किया था ।

मन्त्री ने प्रयास किया और राजपुत्र से वचन लिया कि वह जब भी पकड़ेगा श्वेत रंग के हाथी ही पकड़ेगा, चाहे भूखों मरना पड़े । राजपुत्र ने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर ली और पिता के आदेशानुसार मंत्रीपुत्र ने ऐसी प्रतिज्ञा की कि चाहे मुझे कितने ही जंगल छानने पड़ें, मैं चन्दन-काष्ठ ही काटूँगा । अब तो अपनी ही लिखावट को रखने के लिए विधि देवी अपनी ही लिखावट मिटाने लगी । विधि-विधान के अनुसार राजकुमार को शिकारी ही बनना था, इसलिए विधिदेवी को श्वेत गज की व्यवस्था करनी पड़ती और जब ऐसी नौबत आती कि चन्दनकाष्ठ न मिलने के कारण मंत्रीपुत्र खाली हाथ अपनी झोंपड़ी पर लौटेगा तो विधिदेवी सोचती—फिर तो मेरी बात कट जायगी । यदि मंत्री-पुत्र खाली हाथ लौटेगा तो फिर इसकी जीविका लकड़ी काटना

नहीं रहेगी । अतः अपनी बात रखने के लिए विधिदेवी मंत्रीपु
के लिए चन्दनकाष्ठ के सूखे पेड़ खड़े कर देती । मन्त्री विधि
धारा के प्रतिकूल नहीं चला । उसके सहारे-सहारे चलते हुए उ
दोनों का जीवन बदल दिया ।

राजकुमार के पास हजारों हाथी हो गए और मंत्रीपुत्र
पास ढेरों चन्दन हो गया । अन्त में सेना खड़ी की दोनों
और खोया राज्य पुनः प्राप्त कर लिया । बुद्धिमान् मन्त्री
अपनी बुद्धि से विधि को मिटा ही दिया ।

भानुमती ने जिनदत्त से पूछा—

"स्वामी ! अब आप क्या कहेंगे ?"

जिनदत्त बोला—

"प्रिये ! किसी भी श्लोक में वह सब ऊपर से दिखायी
देता, जो उसकी विस्तृत व्याख्या करने पर स्पष्ट दीखता
इसके साथ यह भी है कि श्लोक की विस्तृत व्याख्या उस श
के सीमित छन्द सीमा में सिमटी होती है । इसी तरह
देवी ने राजपुत्र और मंत्रीपुत्र के ललाट में शिकारी
लकड़हारे की जो बात लिखी, उसकी छिपी व्याख्या में य
लिखा था कि वे मन्त्री के सहयोग से बाद में ऐसा ही
जिसे मन्त्री ने अपनी बुद्धि का काम माना था । निष्कर्ष य
जैसा भाग्य होता है, वैसी ही बुद्धि बनती है ।"

"तो स्वामी फिर .. ।" भानुमती इतना ही कह पा
एकाएक ही कक्ष में एक अद्भुत प्रकाश हुआ । दोनों भ
होकर देखने लगे तो दिव्यरूप यक्षाधिपति को खड़े देखा ।
मती और जिनदत्त के हाथ स्वयमेव ही जुड़ गये और उ

राज को झुककर प्रणाम किया। मन्द मुस्कान के साथ यक्ष जिनदत्त से कहा—

"श्रेष्ठिन् ! मैं यक्ष तुम्हारे पुण्यों से आकर्षित होकर यहाँ या हूँ। वर माँगो !"

जिनदत्त बोला—

"यक्षराज ! भाग्य का दिया हुआ सब कुछ मेरे पास है। , अब तो वंशभास्कर एक पुत्र ही चाहिए। बस एक पुत्र।"

यक्ष बोला—

"श्रेष्ठिन् ! पुत्र तो तुम्हारे होगा, अवश्य होगा। लेकिन पुत्र के होते-होते तुम्हारे सब सुख कपूर की तरह उड़ ायेंगे। क्या तुम चाहोगे पुत्रवान् होना ?"

जिनदत्त के कुछ कहने से पहले ही भानुमती बोल पड़ी—

"यक्षदेव ! कुछ भी हो जाये, पर मेरी सूनी गोद भर दो। ो तो बस एक पुत्र चाहिए। चाहे मुझे भूखों मरना पड़े।"

यक्ष ने कहा—

"खूब सोच लो सेठानी ! फिर तुम्हें अपना जीवन एक भार गने लगेगा। जब तुम्हारा पुत्र होगा, तब तक तुम्हारा सब न नष्ट हो जायेगा। इतना ही नहीं, तुम्हारा पुत्र किसी और घर में वृद्धि पायेगा। तुम्हारा होते हुए भी वह किसी और घर में प्रकाश करेगा।"

"मुझे सब स्वीकार है देव !" भानुमती ने गिड़गिड़ाकर हा—"पुरिमताल की रानी बनकर भी मैं बन्ध्या बनकर हना नहीं चाहती। पुत्रवती बनकर मैं रूखी-सूखी खाऊँ, खी भी रहूँ, फटे कपड़े पहनूँ और मजदूरिन बनकर रहूँ, तो

भी अपने को भाग्यवती मानूँगी । मुझे यह सम्पत्ति नहीं चा
बस एक पुत्र का वरदान दे दो देव !"

यक्ष ने अपना दक्षिण हाथ ऊपर उठाया और बोला—

"तथास्तु ! ऐसा ही होगा । इतना और कि पुत्र हो
बाद भी सदा तुम निर्धन नहीं रहोगे । वर्षों बाद फिर
समृद्धिवान् भी हो जाओगे । तुम्हारा पुत्र सच में एक र
होगा ।"

पागल-सी हो गयी भानुमती और आँखें बन्द करके वा
उन्माद में गुनगुनाने लगी—

"रत्न ! मेरा रत्न ! मेरा पुत्र एक रत्न होगा । मैं
नाम भी रत्न ही रखूँगी ।"

इस प्रलाप के बाद जब भानुमती ने आँखें खोलीं, तो
यक्षराज नहीं था । अन्तर्धान हो गया यक्ष । जिनदत्त ने भा
का हाथ पकड़कर उठाया और बोला—

"उठो प्रिये ! हमारी प्रतीक्षित अभिलाषा पूरी होगी
वाणी अन्यथा नहीं हो सकती । अब वह दिन भी कभी
जब न तो मैं तुम्हें प्रिया कहूँगा और न तुम मुझे प्राणेश
कुछ ।"

"यह आप क्या प्रलाप करने लगे ?" चकित-भ्रां
भानुमती बोली—"तब क्या हम एक-दूसरे के लिए कु
हो जायेंगे । हमारा पुत्र तो हमें और भी अधिक सार्थ
और प्रिया बना देगा ।"

"सो तो होगा ही प्रिये ।" जिनदत्त ने भानुमती की
में झाँकते हुए कहा—"तब मैं तुम्हें रत्नमात कहा करूँ
तुम मुझे रत्नतात !"

हँसने लगी भानुमती । बोली—

"ग्राप वड़े वो हैं ।"

जिनदत्त भी हँसा । दोनों वहुत देर तक हँसते रहे । ग्रव उन्हें पुत्र-प्राप्ति की वात ही याद रह गयी ग्रौर दरिद्र-निर्धन वनने की वात पुत्र की खुशी की तह में नीचे दव गयी । उसे तो ग्रभी से भूल-से गये दोनों । मोह की माया ऐसी ही प्रवल होती है । मुनि ग्रौर तीर्थंकर ही इस माया से बच पाते हैं ।

2

खेलने में सुख है। तभी तो बच्चे खाना-पीना भूलकर खेलने में मस्त रहते हैं। बड़े-बड़े भी खेलते हैं। जुआ खेलते हैं। आखेट को भी खेल मानकर मोद मनाते हैं। लेकिन इनके पीछे भी दु:ख ही दु:ख है। खेल में थकावट का दु:ख तो स्पष्ट ही है और आखेट द्यूत के दुर्व्यसनों के खेल में दुष्परिणाम का दु:ख। लेकिन आशा में तो कोई दु:ख नहीं। आशा के सहारे तो अभावों-भरा जीवन भी सुख से बीत जाता है। भानुमती पुत्रवती बनेगी। वह रत्न मात कहलायेगी, इस आशा ने उसके जीवन को सुखी बना दिया। पर इस आशा में भी प्रतीक्षा का दु:ख था। सद्य:प्रसू से भरी टोकरी जैसी सुखद आशा में भी प्रतीक्षा और आशंका का दु:ख रहता ही है।

प्रतीक्षा में भानुमती गिन-गिन कर दिन काटती। एक दि उसकी आशा पूरी हुई और वह गर्भवती बनी। जिनदत्त ने सु तो खुशी से झूम उठा। बड़ी-बड़ी मधुर कल्पनाएँ करने ल जिनदत्त। सोचने लगा वह—'जैसे ठाठ से लोग जन्मदिन म हैं, उससे तो मैं साधुपराई महोत्सव मनाऊँगा श्रे धनदत्त, सागरदत्त, धनपाल आदि ने कैसे ठाठ से मनाया अपने पुत्रों का जन्मदिन। उससे पहले मैं साधुपराई उ मनाऊँगा। मैंने सब का खाया है तो खिलाऊँगा भी। महीने पूरे तो हों पहले।

पहला महीना बीता । दूसरा-तीसरा बीता और छठा भी ोत चला । पर जिनदत्त की आशा के विपरीत गर्भ के छठे ाहीने तक जिनदत्त खोखला हो गया । व्यापारी तो साहसी ोता है सो जिनदत्त सब झेल गया । यक्ष की बात क्या झूठी ोती ? क्या जिनदत्त का विधिलेख मिट जाता ? भावी नहीं मटी । जिनदत्त के सार्थ लूट लिये गये । दस्युओं ने कुछ न ोड़ा । जब यह अशुभ सूचना भानुमती ने सुनी तो बोली—

"हाय, हमारे ही सार्थ लुट गए ? साथ के और सब सार्थ तो ाकुशल लौट आये । हमारे सार्थ के रक्षकों के हाथों को क्या हो ाया था ?"

जिनदत्त बोला—

"इतने से ही घबरा गई ? हमारे पोतों ने जल-समाधि ले ी, इसमें किस रक्षक का दोष है ? गोदामों में आग लग गई, ाह कैसे हो गया ? अब तो मैं नाम का ही श्रेष्ठी रह गया हूँ ानुमती ।"

रो पड़ी भानुमती । बोली—

"अब क्या होगा स्वामी ?"

मुस्कुराया जिनदत्त । यक्ष की वाणी की याद दिलाना उसने उचित नहीं समझा । वह स्वयं भी तो भूल-सा गया था । बोला भानुमती से—

"होगा क्या ? जैसे देव रखेगा, वैसे रहेंगे । देव सब कुछ ले सकता है, पर व्यापारी का साहस उससे नहीं छीन सकता । हमेशा लाभ ही होता रहे तो व्यापार कैसा ? जो कुछ घर में है और जो कुछ ऋणियों पर ऋण है, उससे पुनः माल खरीदूँगा ।"

"ठीक है, स्वामी ! मेरे आभूषण किस काम आयेंगे ? लाखों करोड़ों के हैं । इन्हें बेचकर पुनः दाँव लगाओ ।"

"अभी नहीं ।" जिनदत्त बोला—

"अभी तो करोड़ों का नकद धन मेरे पास है । इससे काम चलेगा और फिर कर्जदारों से भी तो बहुत लेना है ।"

इस तरह जिनदत्त ने अपने संचित धन से नया माल खरीदने का निश्चय कर लिया । लेकिन भाग्य को कुछ और ही करना था । जिनदत्त के लेनदारों ने उसकी चल-अचल सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया । उसके देनदारों ने एक मेंमुदी भी नहीं दी । भानुमती के आभूषण बेचकर जिनदत्त ने मुनीम-सेवकों का वेतन चुकाया । अब उसकी ऐसी हालत हो गई कि नंगा—वस्त्रहीन, क्या नहाये और क्या निचोड़े । अब जिनदत्त ऐसा साधनहीन हो गया कि लम्बी-चौड़ी हवेली में पति-पत्नी ही रह गए । दास-दासियों के अभाव में सामान्य गृहिणी की तरह भानुमती ही रसोई बनाती, घर का सारा काम-काज करती । जिनदत्त के सगे-सम्बन्धी और मित्र अब उससे मुँह फेरने लगे । इनमें ऐसे लोग भी थे, जो पहले जिनदत्त से यह कहा करते थे कि जिनदत्त ! हम तो आपके बनाये बने हैं । आपका अहसान कभी नहीं भूलेंगे । लेकिन भाग्य की प्रतिकूलता के कारण वे कृतज्ञ कृतघ्न हो गए और अपने पराये बन गये । इस के बावजूद जिनदत्त की पड़ोसिन वृद्धा अब भी इन दोनों से सहानुभूति रखती थी । पर वह बेचारी तो स्वयं ही निर्धन थी ।

जब सातवाँ महीना लगा तो भानुमती ने बुझे मन से कहा—

"स्वामी ? हींग की डिबिया में यदि हींग न रहे तो

की वास वनी रहती है। भले ही आज आप धनहीन हैं, पर
मताल में आपकी प्रतिष्ठा तो आज भी है। आप राजा
न से सम्मानित हैं। छोटे लोग भी सप्तमासिक उत्सव
ते हैं, तो क्या आप साधपुराई उत्सव नहीं मनायेंगे?"

"मनाऊँगा क्यों नहीं? पर कैसे मनाऊँ?" जिनदत्त ने
—"प्रिये! मेरी तो शुरू से ही इच्छा है कि मैं अपनी
ाजिक प्रतिष्ठा के अनुकूल सप्तमासिक—साधपुराई उत्सव
ऊँ। लेकिन विना बुलाये मेहमान इस दारिद्र्य के लिए क्या
? आज मेरे पास धन नहीं है तो क्या कभी होगा भी
? होगा अवश्य। पर कोई ऋण भी तो नहीं देता।"

भानुमती बोली—

"स्वामी! आपके वाल-सखा सेठ मन्मन तो आज भी
वपति हैं। वे आपके मित्र हैं, तो क्या आपकी सहायता नहीं
गे? उनसे ही ऋण ले लीजिए।"

जिनदत्त ने कहा—

"प्रिये! मन्मन मेरा सखा तो अवश्य है। निश्चय ही बाल-
ा है। पर वह अपने स्वभाव से विवश भी तो है। वह महा-
ण और अनुदार है। मैत्री के उत्साह में वह अपने प्राण तो
सकता है, पर धन नहीं। मैं सेंवल के फूल से सुवास की आशा
सकता हूँ, पर मन्मन से धन की नहीं।"

सेठानी बोली—

"पर आप दान में तो माँगेंगे नहीं। ऋण ही तो माँगेंगे।
न-देन तो व्यापार का आधार है। ऐसा कौन-सा सेठ है, जो
ण नहीं लेता और ऐसा भी कौन है, जो ऋण देकर ऋण-
त्क (ब्याज) का लाभ नहीं कमाता?"

"सो तो ठीक है प्रिये।" जिनदत्त बोला—"मैंने भी ऋण देकर ऋण-शुल्क कमाया है और ऋण लिया भी है। पर भाग्य की विडम्बना से लेनदार मेरा सब कुछ ले गये और देनदार मुकर गये। यदि मेरा भाग्य ही टेढ़ा न होता तो यह नौबत ही न आती कि मन्मन से ऋण लेने की बात सोचता भी। तुम लाख कहो, मैं उसके पास नहीं जाऊँगा। वह कभी नहीं देगा।"

सेठानी ने आग्रह किया—

"स्वामी! प्रयत्न करने के बाद यदि सफलता न भी मिले तो फिर यह पछतावा नहीं रहता कि हमने प्रयत्न नहीं किया। भाग्य सब कुछ देता है, पर यह कभी नहीं कहता कि हाथ-पर हाथ रखे बैठे रहो। मेरी मानो, आप अपने बाल-सखा मन्मन के पास अवश्य जाओ। नहीं तो एक दिन यही मन्मन यह कहेंगे कि सखा! तुम मेरे पास तो आये ही नहीं थे।"

जिनदत्त को भानुमती का आग्रह मानना पड़ा और वह मन्मन के भवन की ओर चल दिया। जिनदत्त के लिए यह पहला अवसर था कि किसी के घर कुछ माँगने जा रहा था। उसके पाँव भारी हो गए। आगे बढ़ते हुए भी वह पीछे लौट रहा था। बीच में ही एक स्थान पर जिनदत्त बैठ गया और सोचने लगा—'माँगना तो मरने से भी बुरा है, तो क्या यह अच्छा नहीं होता कि मैं मर ही जाता? पेट के लिए माँगना तो एक विवशता भी है। पर मैं तो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए माँगने जा रहा हूँ। प्रतिष्ठा, सम्मान और आँखों का स्नेह, ये तो उस समय तत्काल चले जाते हैं, जब हम किसी से 'दो' कहते हैं। मैं नहीं माँगूँगा। ऋण लेकर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा—बचा रखूँ?' दूसरे ही क्षण जिनदत्त ने दूसरी तरह सोचा—'लेकिन

यह प्रतिष्ठा भी रखनी पड़ेगी। मुझ पर समाज का जो ऋण है, वह ऋण, ऋण लेकर भी चुकाना पड़ेगा। इसीलिए तो लोग पेट काटकर घर से बाहर निकलने के लिए उष्णीश खरीदते हैं। नंगे सिर कैसे जाएँ? यदि मैं साधपुराई उत्सव नहीं करूँगा तो लोग कहेंगे कि हमारे उत्सवों में तो जिनदत्त पैना मुँह करके खूब आता था। अब खिलाने का एक अवसर आया तो साफ बच गया। यदि मुँह पर नहीं कहेंगे तो पीछे तो कहेंगे ही। सोचेंगे तो सभी। उनका सोचना अनुचित भी तो नहीं है। रखूँगा अपनी प्रतिष्ठा। रखनी पड़ेगी और रखनी भी चाहिए।

निश्चय करके पुन: उठा जिनदत्त और मार्ग की आधी बची दूरी तय करके मन्मन की हवेली तक पहुँच गया। छड़ीदारों ने रोका नहीं। मन्मन सेठ के मिलने का यही समय था। पर नियमत: सन्देश देने प्रतिहार मन्मन के पास पहुँचा। स्वर्ण-मंडित चौड़े आसन पर तकिया लगाये मन्मन बैठा था। मूँछें घनी थीं और कानों में कुण्डल झलक रहे थे। सेवक ने कहा कि श्रेष्ठी जिनदत्त आये हैं। सिर के उष्णीश को ठीक करते हुए मन्मन ने कहा—

"जिनदत्त आया है! कभी तो आता न था? आज क्यों आया है? खैर, भेज दो उसे।"

जिनदत्त आया। मन्मन ने उठकर कर-स्पर्श किया और वक्ष से लगाकर भेंटा। फिर बैठाया अपने ही आसन पर। कोई कुछ नहीं बोला। कुछ क्षणों का सन्नाटा जिनदत्त ने ही तोड़ा—

"सखे! मैं डूब रहा हूँ। तुमसे सहारा लेने आया हूँ। मुझे सहारा दो मित्र।"

मन्मन जैसे ताड़ गया हो, सो बोला—

"मैं किस योग्य हूँ मित्र ? तुमने अपने डूबने की बात कही तो मेरा हृदय डूबने लगा। किसी का कष्ट नहीं सुन पाता। फिर तुम तो मेरे सखा हो। कहो, मैं किस योग्य हूँ ?"

भूमिका बनाना व्यर्थ समझ जिनदत्त ने स्पष्ट कहा—

"मित्र ! भाग्य ने पुत्र की आशा दी, तो धन छीन लिया। तुम्हारी भाभी को सातवां महीना है। साधपुराई का उत्सव करने के लिए मुझे कुछ ऋण दो। इन्कार मत करना। तुम सब लायक हो। यह मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न है।

"प्रतिष्ठा मेरी भी है"। मन्मन बोला— "बिना कुछ रखे मैंने किसी को कुछ नहीं दिया। यदि दूँ तो मेरी व्यापारिक प्रतिष्ठा ही क्या रही ? बुरा मत मानना जिनदत्त। आहार-व्यवहार में लज्जा रखना बाद में दुखदायी होता है।"

रुआँसा-सा होकर जिनदत्त बोला—

"मन्मन ! यदि मेरे पास कुछ रखने को ही होता तो पुरिमताल में ऋणदाता सेठों की कमी नहीं है। मैं मात्र ऋणदाता मन्मन के पास ही नहीं आया हूँ, बल्कि अपने बालसखा मन्मन के पास ऋण लेने आया हूँ।"

"मैं तुम्हारा सखा हूँ, इसीलिए तो मैं और भी अपने नियम पर अटल हूँ। मित्र जिनदत्त ! मित्रता, मित्रता की जगह है और लेन-देन, लेन-देन की जगह। यदि मैं तुम्हें बिना कुछ रखे धन दूँ तो यह धन हमारी मित्रता को भी नष्ट कर देगा। कुछ रखकर ऋण लेने वाले को वापस करने की चिन्ता रहती है और व्यापारी को मूल डूबने की चिन्ता नहीं रहती। मित्रता के नाते मैं तुमसे बार-बार तकाजा भी नहीं कर सकता। और फिर तुम्हें दे भी दूँ तो फिर सब माँगेंगे। मेरा नियम टूट

यगा तो मैं भी उदारतापूर्वक देने लग जाऊँगा। नहीं दूँगा सब कहेंगे कि तुमने जिनदत्त को भी तो दिया था। जिनदत्त! री स्पष्टता का बुरा मत मानना। बिना कुछ रखे, मैं एक मुदी भी नहीं दे सकता। हाँ, यह जरूरी नहीं कि तुम मूल्यवान भूषण ही गिरवी रखो। कोई ऐसी चीज भी रख सकते हो; से छुड़ाना तुम अनिवार्य समझो।"

जिनदत्त विचार में पड़ गया। अब मन्मन से कुछ और हना उसने व्यर्थ ही समझा। मन्मन ने तो तनिक भी गुंजा- श नहीं छोड़ी थी। उसने बिना कुछ रखे कुछ भी देने से दो- क इन्कार कर दिया था। सोचने लगा जिनदत्त—'मैं तो जानता ा कि मन्मन कुछ नहीं देगा। भानुमती ही नहीं मानी थी। पनी प्रतिष्ठा भी खोयी। हाथ फैलाया और मिला भी कुछ हीं। तो क्या अब यों ही लौट जाऊँ? फिर किससे माँगूगा? कहीं ोर से ही आशा होती तो इस कृपण के पास ही क्यों आता? पनी सामाजिक प्रतिष्ठा भी रखनी है और उसके लिए ऋण भी ना है और बिना कुछ रखे ऋण मिलेगा नहीं। कहीं से नहीं लेगा। किसी और के यहाँ कुछ गिरवी रखूँ तो रहा-सहा रिद्र्य भेद भी खुल जायगा। इससे अच्छा है कि मन्मन के हाँ ही कोई चीज गिरवी रखकर एक सहस्र राजमुद्रांकित स्वर्ण ण्ड ले लूँ। पर क्या रखूँ? कुछ भी तो नहीं है मेरे पास।'

जिनदत्त का मौन मन्मन को अखर रहा था। अब वह जिन- त्त को टरकाना चाहता था, क्योंकि इतना स्पष्ट हो ही गया ा कि जिनदत्त खोखला है। उसके पास गिरवी रखने योग्य छ नहीं है। यदि होता तो इतनी देर तक नहीं सोचता। अतः रकाने के लिहाज से कृपण मन्मन बोला—

"जिनदत्त ! मेरा तो आज उपवास है। तुम तो भोज करोगे ही ? तुम्हारे लिए भोजन बनवाऊँ ?"

कष्ट के क्षणों में भी जिनदत्त को मन्मन के स्वागत-श को सुनकर हँसी आ गयी। अपनी हँसी को नीचे का ओठ चब कर दबाया जिनदत्त ने और बोला—

"बिना उपवास-तिथि के भी व्रत रखते हो मित्र ? आ क्या बात है, जो तुम व्रत रखोगे ?"

मन्मन बोला—

"भई, तुम लोग धार्मिक हो, सो पर्व-तिथियों की याद रख हो। हमें तो कुछ याद नहीं रहता। सो चाहे जब, जब मन हो है, व्रत रख लेते हैं।"

"यह भी क्या बुरा है ?" जिनदत्त ने बात को वहीं सम किया और सोचकर जो निश्चय किया था, उसे कहने को उ हुआ कि मन्मन ने बात छेड़ी—

"जिनदत्त ! उत्सव-समारोह के चक्कर में क्यों पड़ते हो जब तुम्हारे पास था तो बहुतों को यों ही देते थे। अब दूसरों खिलाने के लिए क्यों ऋण लो ? मैं तुम्हारा मित्र हूँ, इसलि समझाता हूँ। यदि तुम हाथ खींचकर व्यय करते तो आज ऐसे दिन देखने पड़ते ? धन का संचय सदा सुखकर होता है जब भाग्य की कुदृष्टि उपार्जन पर पड़ती है तो आड़े समय संचित धन ही काम आता है।"

जिनदत्त बोला—

"भाग्य की कुदृष्टि जैसे उपार्जन पर पड़ती है, वैसे संचय पर भी पड़ती है। खैर, अब तुम ऋण देने की बात

आओ। मैं अपनी वह सन्तान, जो मेरी पत्नी के गर्भ में है, गिरवी रखकर तुमसे मात्र एक सहस्र स्वर्ण-खण्ड चाहता हूँ।"

"मुझे स्वीकार है।" मन्मन खुशी से उछल पड़ा। बोला—'इसमें क्या बात है? जैसा तुम्हारा बेटा, वैसा ही मेरा। यहाँ रहे या वहाँ रहे।

"जिनदत्त! बिना गिरवी रखे ऋण न देने की मेरी भी प्रतिष्ठा रह गयी और तुम्हारा भी काम बन गया। वरना वैसे मुझे क्या लाभ? तुम्हारा पुत्र रहेगा तो मुझे उस पर खर्च ही करना पड़ेगा पर मित्रता में इन बातों का विचार नहीं किया जाता। गिरवी रखने का तो मेरा नियम है। सच कहता हूँ जिनदत्त! यदि तुम एक तृण भी गिरवी रखने की बात कहते तो मैं मानता, अवश्य मानता।"

फिर दोनों में ऋण-शर्तें निश्चित हुईं। बड़ा धूर्त था मन्मन। मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था और ऐसी-ऐसी शर्तें तय करने में उलझा था, जिससे जिनदत्त का पुत्र कभी लौटकर उसके घर ही न जाए। भानुमती प्रसव-वेदना सहे और मन्मन की सेठानी पुत्रवती बने। अन्त में शर्तों का निश्चय हो गया। पुरिमताल के पाँच पंच बुला लिये गए। मसिपात्र और लेखनी आ गई। शर्तें लिखी जाने लगीं। पीले रेशम खण्डों की दो प्रतिलिपियों पर जिनदत्त की ओर से लिखा गया—

"राजा शूरसेन की राजधानी पुरिमताल नगर का श्रेष्ठी मैं जिनदत्त इसी नगर के सेठ मन्मन से अपनी पत्नी के गर्भ में स्थित पुत्र को गिरवी रखकर एक सहस्र राज-मुद्रांकित स्वर्ण-खण्ड ऋण ले रहा हूँ।

"समय पर काम आये, इसलिए नगर के पाँच प्रतिष्ठित

व्यक्तियों की साक्षी में ऋण लौटाने की शर्तें इस प्रकार हैं। मेरा पुत्र विद्याध्ययन करके सोलह वर्ष का युवा-तरुण होने त श्रेष्ठी मन्मन के घर ही रहेगा। वे पुत्रवत् उसका लालन-पाल करेंगे। विद्या निष्णात और बड़ा होकर मेरा पुत्र व्यापार क विदेश जायगा। श्रेष्ठी मन्मन अपने धन से विक्रय सामग्री दे मेरे पुत्र को व्यापार के लिए विदेश भेजेंगे। व्यापार करके मे पुत्र जब लौटेगा तो सेठ मन्मन की मूल पूँजी ज्यों की त्यों लौ देगा और लाभ में से ऋण-शुल्क (व्याज) सहित मेरा पूरा ऋ चुकायेगा और तभी वह मेरे अर्थात् अपने पिता के घर आने अधिकारी होगा।

"इसके अतिरिक्त व्यापार के लिए विदेश जाते समय श्रे मन्मन मेरे पुत्र को स्वेच्छा से जो सुविधा-धन जेब खर्च के रूप देंगे, उस पर भी मेरे पुत्र का ही अधिकार होगा। मार्ग व्यय यह धनराशि सेठ मन्मन की इच्छा पर निर्भर होगी।"

इस पर जिनदत्त और मन्मन—दोनों के हस्ताक्षर हुए एक-एक प्रति दोनों ने ले ली। एक सहस्र स्वर्णखण्ड ले जिनदत्त अपने घर को गया। भानुमती ने जब पीली-पीली मु देखीं तो उसकी आँखें चमक गईं। पुलककर बोली—

"देखो, आप तो मानते ही न थे। आखिर मन्मन ने ऋ दे ही दिया। अब आप अपने पिता और पितामह की प्रति के अनुरूप साधपुराई उत्सव कर सकेंगे। यह भी तो ज था।"

जिनदत्त के मुख पर उदासी थी। इस अनचाही उदासी देखकर भानुमती कुछ शंकित हुई। जिनदत्त अभी बताना न

चाहता था । पर भानुमती ने हठ करके पूछा तो जिनदत्त ने आद्योपान्त सब वृत्तान्त बता दिया। सहम गयी भानुमती। तुषार की मारी कमलिनी-सी उसकी दशा हो गयी। कातर होकर बोली—

"स्वामी ! तो सोलह वर्ष तक मैं पुत्र से विलग रहूँगी ? क्या दैव की माया इतनी विचित्र है ?"

जिनदत्त ने समझाया—

"प्रिये ! जो संकट दो महीने बाद आयेगा, उसके लिए अभी से उद्विग्न क्यों बनो ? और कोई चारा भी नहीं था। मैं भी कितना अभागा हूँ कि पुत्र को गिरवी रखकर ऋण लाया हूँ।"

बस, फिर ज्यादा बातें नहीं हुईं। जिनदत्त ने अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल साधपुराई (गर्भ का सप्तमासिक) उत्सव किया। इष्ट-मित्र आये। पूज्य गुरुजनों का आशीष मिला श्रेष्ठी दम्पती को। जिनदत्त ने जो प्रीतिभोज दिया उसमें सम्मान और प्रेम का ऐसा रस घोला कि आगन्तुक वाह-वाह करने लगे। गीत-नृत्य भी हुए। ढोलकें भी धुनकीं। जिनदत्त के घर-आँगन में मुस्कान की ही छटा बिखरती दीखती थी।

दिवाली की रात की तरह सभी उत्सवों की चहल-पहल बीत जाती है। यह भी बीत गयी। एक-एक करके साठ दिन बीते। नौ महीने पूरे हो गये और सात दिन ऊपर बीतने पर भानुमती ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र का मुखचन्द्र देखकर भानुमती अपना अतीत-आगत सब भूल गयी। वह दिन भी चन्द्रदर्शन का दिन था, अर्थात् शुक्ल-पक्ष की द्वितीया का दिन था।

नगर भर में यह संवाद फैल गया कि श्रेष्ठी जिनदत्त के

घर पुत्र-जन्म हुआ है। मन्मन ने तुरन्त अपने दूत यह कहकर भेजे—

"जाओ! जिनदत्त के पुत्र को ले आओ। उस पर तो मेरा ही अधिकार है। जिनदत्त से कहना कि अपनी प्रतिज्ञा इतनी जल्दी कैसे भूल गये।"

दूतों ने अपने स्वामी मन्मन की बात जिनदत्त से कही। जिनदत्त मन-ही-मन बहुत क्षुब्ध हुआ—'मन्मन इतना अविश्व है? सिद्धान्त ही सब कुछ हो गया? व्यवहार जैसे कुछ नहीं। आपसदारी तो उसने ताक पर ही रख दी।' ले जिनदत्त के तो हाथ बँधे थे। मानने वालों के लिए वचन बन्धन बड़ा कठोर होता है। अपने मन का क्षोभ दब जिनदत्त ने मन्मन के दूतों से कहा—

"अपने स्वामी से कहना कि लिखित प्रतिज्ञा-पत्र के अनु मेरे पुत्र पर उन्हीं का अधिकार है। यह तो उसी दिन से ह हो गया, जिस दिन मैं उनसे ऋण लाया था। पर आपसी व हार के नाते उनसे कहना कि सत्ताइस दिन प्रतीक्षा और क में पुत्र का जन्मोत्सव मना लूँ। अभी तो उसका नामक संस्कार भी नहीं हुआ है। अट्ठाइसवें दिन वे पुत्र को मँगा लें।"

दूत वापस मन्मन के पास पहुँचे और जिनदत्त का स ज्यों-का-त्यों मन्मन के सामने दुहरा दिया। लोक-लिहाज के मन्मन ने जिनदत्त का प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया। पर जै स्वयं था, वैसा ही दूसरों को समझने वाले मन्मन ने विश्वस्त सशस्त्र प्रतिहारों से कहा—

"तुम लोग जिनदत्त के भवन पर चले जाओ और इस की चौकसी रखो कि रात या दिन में कभी भी जिनदत्त

र और पत्नी को लेकर कहीं भाग न जाये। पिछवाड़े के द्वारों
। भी ध्यान रखना। सत्ताइस दिन तो पूरा एक महीना ही
ता है।"

मन्मन के सेवकों ने उसका आशय अच्छी तरह से समझ
या और जिनदत्त के भवन पर पहुँच गये। जैसा स्वामी, वैसे
सेवक भी थे। जिनदत्त के घर कोई नवागन्तुक आता-जाता
। वे ढीठ टोका-टाकी करते और यह देखते कि इनकी गोद
क्या है ?

सत्ताइसवें दिन जिनदत्त के पुत्र का नामकरण संस्कार
आ। तत्कालीन प्रथा के अनुसार बालक की बूआ ने उसका
ाम रत्नपाल रखा। बड़ी धूम-धाम से पुत्रोत्सव मनाया जिन-
त्त ने। फिर खुशी की रात बीती तो अट्ठाइसवाँ प्राणलेवा दिन
ी आ ही गया। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का यह दिन मन्मन के
ाए तो अपार प्रसन्नता का दिन था। उसके दूत पुनः जिनदत्त
पास पहुँच गये, मानो यमदूत ही आये हों। भानुमती ने सुना
। रत्नपाल को अंक में भर लिया और बोली—

"नहीं स्वामी ! मैं नहीं दूँगी अपने रत्न को। कोई कुछ भी
हे। पर मैं अपने पुत्र को नहीं दूँगी।"

जिनदत्त ने समझाया—

"रत्नमात ! विपरीत परिस्थितियों में भी जो धर्म का
ालन करते हैं, वे ही तो धर्मनिष्ठ माने जाते हैं। यह वर्त-
ान तो कभी आगत के रूप में तुमने सहर्ष स्वीकार किया था।
ा ने तो स्पष्ट ही कह दिया था कि हमारा पुत्र पराये घर में
ढि पायेगा और हम निर्धन भी होंगे। आज क्यों भूल रही
यक्षराणी को ?"

भानुमती निरुत्तर हो गयी। उस धैर्यवती ने ज्यों-त्यों धै
धारण करके अपना रत्नपाल जिनदत्त के हाथों में सौंप दिया
अपना हृदयपिण्ड जिनदत्त को देकर वह बड़ी देर तक फटी-फ
आँखों से दूतों द्वारा ले जाते हुए अपने पुत्र को देखती रही
फिर एकाएक ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। जिनदत्त ने शीतल
पचार द्वारा उसे चैतन्य किया और पुनः समझाया—

"प्रिये! सदा दिन एक-से किसी के नहीं रहते। पुरा
आदर्शों को देखो। राम का वन-वन भटकना। उससे पहले स
हरिश्चन्द्र द्वारा डोम की चाकरी करना, पुत्र और पत्नी
बेच देना क्या धैर्यवान वीरों के प्रेरक उदाहरण नहीं हैं? धै
धारण करो। यक्ष ने यह भी तो कहा था कि पुनः हमारा पु
हमारे ही घर आयेगा। संकट के दिन ही तो धर्मपालन
कसौटी होते हैं। मन्मन के यहाँ रत्नपाल सुख से रहेगा।
उसे पुत्रवत् पढ़ायेगा। सोलह वर्ष बाद अपने धन से उसे व्यापा
करने भेजेगा और लाभ में से हमारा पुत्र ब्याज सहित
चुकाकर आयेगा। मन का क्या समझाना? तुम यही समझ
कि सोलह वर्ष बाद पुत्र हुआ।"

आँखें पोंछते हुए भानुमती बोली—

"स्वामी! आपकी बातों से पीपल-पात-सा डोलता
मन कुछ स्थिर तो हुआ; पर मैं माता हूँ और आप पिता
इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए मेरी एक प्रार्थना मन्मन
पहुँचा दें कि वे मुझे अपने यहाँ रत्न की धाय के रूप में सेवि
रख लें। पांच धायों में दूध पिलाने वाली धाय मैं बनूँगी।
मैं अपने ही पुत्र को अपना दूध नहीं पिला सकती?"

'देवकी भी अपने पुत्र श्रीकृष्ण को दूध नहीं पिला सकी

फिर भी देवकीनन्दन कहलाये।"—जिनदत्त ने बड़े प्यार से कहा—"प्रिये! मोह ने तुम्हारे विवेक को हर लिया है। मन्मन यह कभी स्वीकार नहीं करेगा और फिर यह भी सोचो कि जिस सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए हमने पुत्र को गिरवी रखकर ऋण लिया था, उसी प्रतिष्ठा को तुम मन्मन की दासी बनकर मिटाना चाहोगी? विशेष अड़चन यह है कि प्रतिज्ञापत्र में यह शर्त नहीं है कि तुम अपने पुत्र को दूध पिलाने वाली धाय बनने की नौकरी मन्मन के यहाँ करो।

"प्रिये! एक लाख बार नमस्कार मन्त्र का जाप करो। धैर्य धारण करने की शक्ति मिलेगी।"

बीतते क्षणों के साथ भानुमती का शोकावेग कुछ कम हुआ। इधर मन्मन के दूत जब रत्नपाल को लेकर पहुँचे तो उसने झट रत्नपाल को अपनी गोद में ले लिया और अपनी बाँझ पत्नी को देते हुए बोला—

"भामिनी! इसे अपना औरस पुत्र ही समझो। शुभ सामुद्रिक लक्षणों से युक्त रत्नपाल नाम का यह श्रेष्ठिकुँवर सचमुच ही रत्न है। यह हमारे कुल का ही दीपक है। देखो, भाग्य की विचित्र लीला कि किसी के आँगन का कल्पवृक्ष किसके घर आ गया।

"प्रिये! सोलह वर्ष किसने देखे हैं। तब तक जाने कौन मरा, कौन जिया? कब सोलह वर्ष होंगे, कब यह पढ़-लिखकर व्यापार करने विदेश जायेगा और कब यह अपने पिता का ऋण चुकायेगा। प्रतिज्ञापत्र की ये सब बातें बालू की भीत और बादलों से बने चित्र के समान हैं।

मन्मन की पत्नी ने पति के विचारों का अनुमोदन कि॰ और रत्नपाल को अंक में लेकर विभोर हो गयी। बोली—

"स्वामी! अब मेरा वन्ध्यादोष मिट गया! रत्नपाल मु॰ ही अम्ब कहेगा। पर आप खड़े-खड़े क्या कर रहे हैं? आप कैं॰ श्रेष्ठी का पुत्र क्या यों ही रहेगा?"

"मैं समझ गया प्रिये!" कहते हुए मन्मन बैठक में भागा॰ दासों को आदेश देने लगा। आनन-फानन रत्नजटित पालने क॰ प्रबन्ध हो गया। बालक के पुण्य से मन्मन की कृपणता अब ज॰ कहाँ चली गयी! ढेर सारे खिलौने आ गए पाँच धायों क॰ तुरन्त प्रबन्ध हो गया। मन्मन-प्रिया रत्नमात हो गयी। गिर॰ रखने और ऋण लेने की बातें पुरिमताल के वही पाँच व्यक्ति जानते थे, जिन्होंने प्रतिज्ञापत्र पर साक्षी बनकर हस्ताक्षर कि॰ थे।

इधर जब पहला दिन बीता तो जिनदत्त ने भानुमती॰ कहा—

"प्रिये! अब तो हर हालत में यह नगर छोड़ देना है। आज ही रात को भाग चलें। 'पुत्र को गिरवी रखकर ऋ॰ लिया है, जिनदत्त ने' ऐसी लोकनिन्दा सुनकर मैं यहाँ कै॰ रहूँगा? आज पाँच ही जानते हैं तो कल दस जानेंगे और पर॰ पूरा नगर जानेगा। तब मैं तो मुँह भी नहीं दिखा सकूँगा कै॰ रहूँगा यहाँ?

"प्रिये! दूसरा कारण भी सुन लो। मन्मन से लिया हुआ ऋण भी अब नहीं रहा। यहाँ रहकर भी मजदूरी करनी है। जब मजदूरी ही करनी है तो परदेश ही अच्छा।"

भानुमती ने अनुमोदन किया। द्वार की किवाड़ें बन्द कर॰

पति-पत्नी ने यात्रा की तैयारी की। पहनने-ओढ़ने के दो-चार कपड़े बाँध लिये। कुछ दिन टिकने लायक पर्याप्त पाथेय तैयार कर लिया। जब संध्या का धुँधलका हुआ तो अपनी पड़ोसिन वृद्धा को बुलाकर अपना निश्चय बताते हुए जिनदत्त ने कहा—

"माता! तुम्हारे उदर से जन्म नहीं लिया, फिर भी तुम्हें माता माना है। घर की चाबियाँ सम्हालो और हमें आशीष दो कि हमारी यात्रा सफल हो। जीवित रहे तो फिर आकर मिलेंगे।"

वृद्धा की आँखों में आँसू आ गये। उसने बालक की तरह जिनदत्त को वक्ष से लगा लिया। भानुमती के सिर पर हाथ रखा। फिर बोली वृद्धा—

"मेरे पुण्य भी तुम्हारी सहायता करें। जिस अँधेरी रात को तुम यह नगर छोड़ रहे हो, यह रात कितनी ही लम्बी हो, एक दिन अवश्य बीतेगी। एक दिन फिर इसी हवेली पर याचकों की पंक्ति खड़ी दीखेगी। जाओ वत्स!"

इस तरह अपने भवन की चाबियाँ वृद्धा को सौंपकर जिनदत्त भानुमती ने रात के सन्नाटे में पुरिमताल नगर छोड़ दिया। मन्द-मन्द मुस्कुराते टिमटिमाते तारे मानो कह रहे थे—"हमारी चिन्ता मत करो जिनदत्त! हमारे फीके प्रकाश से तुम्हारा भेद नहीं खुलेगा। हम तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।"

पत्तों की खड़खड़ाहट से चौंकते-बचते जिनदत्त ने अपनी जन्म-भूमि—पुरिमताल नगर को छोड़ दिया।

दूसरे दिन भी पुरिमताल में वैसा ही प्रभात हुआ, जैसे रोज होता था। जिनदत्त के चले जाने से क्या अन्तर पड़ता?

जब कोई इस संसार को ही छोड़ जाता है तो संसार के संक्र- प्रभात में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वन में लगी आग की त जिनदत्त के गायब हो जाने की बात फैल गयी। तरह-तरह अनुमान लगाये लोगों ने। ज्यादातर लोगों ने दुर्दिनों को कारण माना। मन्मन ने सुना तो खुशी से नाचने लगा। अप प्रिया से बोला—

"देखा तुमने ! इसे कहते हैं भाग्य। जिनदत्त यहाँ होता शायद कुछ अड़चन भी करता। सोलह वर्ष बाद अपनी शर्त याद ही दिलाता। पर अब मेरे भाग्य ने उसे यहाँ से भेज दिया। दारिद्र्य का मारा, मेरे ऋण से दबा जिनदत्त अब पुरिमताल नगर नहीं लौटेगा। अब तो रत्नपाल मेरा ही बिल्कुल मेरा। बहुत अच्छा हुआ। बहुत ही अच्छा हुआ।

"प्रिये ! उर्दके दाने पर जो किंचित्मात्र सफेदी होती अब तो मुझे इतना भी सन्देह रत्नपाल के छिन जाने का न रहा। अब रत्नपाल मेरा ही वंशभास्कर है। अब तो बस्ती लोग भी उससे नहीं कहेंगे कि तू जिनदत्त का पुत्र है। जिन हाँ होता तो कहते भी। किसी को क्या पड़ी, जो कहे कोई ालूम ही किसको है ? बस, पाँच ही साक्षीजन तो जानते इस रहस्य को। सोलह वर्ष तक मौन रहने के लिए तो जिन भी बाध्य था।"

पति-पत्नी दोनों प्रसन्नता से भर गये। पूर्ण वात्सल्य-भा और पूर्ण अपनत्व से ही मन्मन दम्पती रत्नपाल का लालन-पाल कर रहे थे। अभी तो पाँच ही दिन बीते थे। मन्मन का इरा तो रत्नपाल को पाँच वर्ष बाद ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दिलाने था। बड़ी मधुर कल्पनाएँ करता था मन्मन। अपने वर्तमान

वकर जैसा अनुमान मन्मन लगा सकता था और जैसा लगाना
ाहिए था, वह सब अनुमान मन्मन ने अपने आगत का लगा
या था। लेकिन आगत का जानना - समझना यदि संभव हो
ता तो मन्मन इतना न फूलता। फूलने वाला सदा फटता ही
, फैल नहीं पाता।

× × ×

अमावस की तिथि, अँधियारी रात और निशीथ वेला।
ाता की तरह रात ने सबको अपनी गोद में सुला लिया था। जैसे
ाता की गोद में नींद अच्छी आती है, वैसे ही सब रातमात की
ोद में सोते हैं। लेकिन जिनदत्त के भाग्य में तो आज सोना भी
हीं था। आधी रात के अँधेरे में वह बढ़ा जा रहा था। अकेला
। था जिनदत्त। भानुमती ? भानुमती तो मानो जिनदत्त की
ाक्षात् धर्म-क्रिया आकार धारण करके साथ साथ चल रही थी।
िनदत्त के सिर पर जो पोट थी, मानो उसने उस पोट के रूप
अपने दुर्दिनों को समेट कर रख लिया था। एक दिन वह भी
ा, जब सारथि हाथ जोड़कर कहता था जिनदत्त से—स्वामिन् !
हाँ चलना है ? सेवक पूछते थे— क्या आज्ञा है ? आज वही
िनदत्त-भानुमती दुर्दिन का भार लिए पैदल जा रहे थे।

चोरों को प्रसन्न करने वाली काली रात बीती। सवेरा
ते तक दोनों एक सरोवर के निकट पहुँच गये। शौचादि से
िवृत्त हो नवकारसी आदि धर्म क्रियाएँ सम्पन्न कीं। सच्चा
र्मी संकट में भी धर्म को नहीं त्यागता, क्योंकि धीरज, धर्म,
ित्र और पत्नी - संकट के समय सहायक होते हैं। ध्यानादि
निवृत्त हो जिनदत्त-भानुमती ने कलेवा किया और फिर चल
ये। रातभर में छह - सात कोस की दूरी तय करली थी और

अभी बहुत चलना था। दोपहर की असह्य गरमी सहन न सकने के कारण भानुमती के पाँव लड़खड़ाने लगे। जिनदत्त थक गया था, सो थोड़ी दूर दिखायी देने वाले गाँव में दुपहर बिताने का निश्चय किया।

किसी गृहस्थ के एक लिपे-पुते चबूतरे पर दोनों टिक गये अभी वे अच्छी तरह बैठ भी नहीं पाये थे कि घर की मालि बाहर आ गयी और जैसे कोई क्रूर कुत्ते को दुत्कारता है, ही जिनदत्त को दुत्कारते हुए बोली—

"बिना पूछे तुम लोग चोर-उचक्कों की तरह मेरे घर वेदिका पर कैसे बैठे हो ? अभी उठो। भागो यहाँ से।"

भानुमती ने अनुनयपूर्वक कहा—

"बहिन ! तुम्हारी ही तरह हम भी सद्गृहस्थ हैं। समय पथिक हैं। थोड़ी दूर बैठकर चले जायेंगे।"

लेकिन दुष्टा गृहिणी नहीं पसीजी। गरजकर बोली—

"लुटेरे लोग पहले पथिक बनकर ही आश्रय ग्रहण करते भला-बुरा किसी के माथे पर नहीं लिखा होता। यदि चुप नहीं उठोगे तो धक्के मार कर हटाऊँगी।"

सर्पिणी से अमृत की आशा व्यर्थ समझ जिनदत्त ने विछावन समेटा और पोट उठाकर चल दिया। पीछे चल हुई पतिचरण अनुगामिनी भानुमती ने कहा—

"स्वामी ! इस गाँव में भले लोग भी तो होंगे। किसी के चबूतरे पर ठहर जायेंगे।"

जिनदत्त बोला—

"प्रिये ! धन चला गया। हम दरिद्र हो गए, पर स्वाभि

न के धन को मैं नहीं जाने दूँगा । यह सब भाग्य की ही तो त है कि पुरिमताल में मेरे बनाये पंथागारों में सैंकड़ों पथिक त बिताते हैं और आज मुझे कुत्ते की तरह फटकारा गया । । मैं किसी के द्वार पर नहीं ठहरूँगा । जब तक कहीं स्थायी काना नहीं मिलेगा, तब तक किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे ही ।रा लेंगे ।"

भानुमती कुछ नहीं बोली । मन-ही-मन उसने पति के चारों का समर्थन किया । दुपहरी में ही गाँव से बाहर कल गए और दोनों ने एक वट-वृक्ष के नीचे दुपहरी काटी । पहरी में फिर चलने लगे और एक वृक्ष के नीचे ही रात भी टी ।

चलते-चलते दक्षिण दिशा के एक नगर में पहुँच गए दोनों । : नगर वसन्तपुर था । बड़ा सुन्दर नगर था । बड़े - बड़े धनी-नी श्रेष्ठी इस नगर में रहते थे । चारों ओर वन - ही - वन थे । । नगर की समृद्धि और सौन्दर्य देखकर जिनदत्त ने भानुमती कहा—

"प्रिये ! यह नगर तो हमारे पुरिमताल नगर का ही प्रति-र है । अब आगे नहीं जाना है । क्योंकि हम लोग अपने पुरिम-ल से योजनों दूर निकल आये हैं । यहाँ कोई नहीं आयेगा । त्र यहीं रहकर हम अपने दुर्दिन काटेंगे ।"

भानुमती ने अनुमोदन किया—

"ठीक है, स्वामी ! मैं किसी सेठानी की दासी बन जाऊँगी ।र आप........।"

बीच में ही बोला जिनदत्त—

"फिर तो तुम अपने को विधवा ही मान बैठीं ? मैं रहते........।"

"हाय राम !" भानुमती ने जिनदत्त के मुँह पर हाथ दिया। कातर होकर बोली—

"अब आगे कुछ न कहना। आप भी क्या किसी की मजदूरी करने लायक थे ? दुर्दिनों में आपके साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चलूँ, यही मेरा अभिप्राय था। बुरा मान गए आप ?"

जिनदत्त बोला—

"रत्नमात ! कंधे-से-कंधा मिलाकर चलेंगे तो दोनों गिर जायेंगे। गृहिणी की शोभा तो गृह में ही है। जो पुरुष अपनी प्रिया से मजदूरी कराने की सोचते भी हैं, वे अभागे अपने को पति कहते ही क्यों हैं ? भले ही हम एक समय खायें या निराहार भी रहें, पर उपार्जन काम तो मैं ही करूँगा।"

"ठीक है स्वामी ! चलो, फिर कहीं रहने का ठिकाना ढूँढ़ें।"

"रत्नमात ! नगर में नहीं रहेंगे हम। नगर में रहना हमारे भाग्य में होता तो पुरिमताल क्यों छोड़ना पड़ता ? यह स्थान उपयुक्त है। नगर भी दूर नहीं। यहीं एक पर्णकुटीर बना लेंगे। देखो, कैसा अच्छा जंगल है। सूखे काष्ट का भी घाटा नहीं है। काष्ट काटने के साथ हमारे दिन भी कट जायेंगे।"

पत्नी को वहीं छोड़ जिनदत्त नगर चला गया। अपनी अंगूठी बेच डाली। एक कुल्हाड़ी और रस्सी खरीद ली। जब लौट कर आया तो देखा भानुमती ने फूस-पत्ते इकट्ठे कर लिये थे। फिर जिनदत्त ने बाँस-वल्ली काट कर एक पर्णकुटीर बनायी। पूरा दिन बीत गया अपना घर बनाने में। बड़ी सुन्दर पु

गई। गृहद्वार पर एक वेदिका भी बना ली। भीतर - बाहर
र से लीपकर ठीक कर लिया घर आँगन को।

जिनदत्त पहले दिन काष्ठ काटकर लाया। दस मेंमुदी में
का काष्ठभार बिक गया। दाल - आटा खरीद लाया जिनदत्त।
नुमती ने रसोई बनायी। भोजन का चौथा भाग परसेवा - भोग
कालकर जिनदत्त ने गाय को दिया और फिर भोजन किया।
में भानुमती ने खाया। अब तो जिनदत्त के जीवन की एक
बन गई। नगर के अन्य लकड़हारों से भी उसकी जान-
चान हो गई। रोज कुआँ खोदना और रोज पानी पीना, इस
ावत को चरितार्थ करने वाली उसकी जीविका थी। कभी
मेंमुदी और कभी बारह मेंमुदी में उसकी लकड़ियाँ बिक
ी थीं। इससे उसका काम बड़े आराम से चल जाता था।
ादत्त बारहव्रती दृढ़ निश्चय वाला श्रावक था, इसलिए हरा
ठ नहीं काटता था और भाग्य संयोग से वसन्तपुर के जंगलों
ाचुर मात्रा में सूखा काष्ठ उपलब्ध था।

खाली समय में भानुमती अपनी कुटिया को सजाती थी।
सी के बिरवा तो लगाये ही थे, अनेक तरह के पुष्प - पादप भी
ुमती ने अपनी कुटिया के आस-पास लगा लिये थे। कुटी के
र लताएँ छा गई थीं। अपने पुरिमताल के सात मंजिले
भवन से अधिक अच्छी यह कुटिया लगती थी जिनदत्त-
ुमती को।

दोनों के दिन बड़े अच्छे बीत रहे थे। रात को दोनों अपने
ापाल की याद करते। तरह-तरह की कल्पनाएँ करके सोते।
दिन पुत्र - मिलन का सपना देखकर उठी भानुमती। रोने
। जिनदत्त ने पूछा तो बोली —

"मेरा रत्न दूध पीने के लिए मचल रहा था। ज्यों ही स्तनपान कराने उठी कि मेरी आँख खुल गई। नाथ! मेरे को जाने कैसे दूध मिलता होगा?"

जिनदत्त की आँखें भी भर आई। बोला—

"रत्नमात! अपने लाड़ले को मैं भी एक क्षण नहीं पाता। तुम्हें रत्नमात कहने से ही मुझे अमित संतोष मिलत भाग्य पर भरोसा रखो। पुत्रवियोग के दिन भी कभी ही। अवश्य बीतेंगे। भले - बुरे सभी तरह के दिन बीत हैं।"

भानुमती ने धैर्य धारण किया। इसी तरह अपने र स्मृति संजोये— दोनों धर्म - धैर्य के सहयोग से अपने दुदि भी सुदिनों की तरह बिता रहे थे।

धीरे-धीरे रत्नपाल बड़ा होने लगा। उसकी ठुमक-ठुमककर नने की शोभा को देखकर मन्मनप्रिया वलि-वलि जाती थी। भाव से कर्कशा और तुनक-मिजाज सेठानी भी, जो अपने यों को डाँटती-फटकारती थी, रत्नपाल के लिए तो वह भी पवादिनी थी। क्योंकि मातृहृदय ऐसा ही महान् होता है। पीने वाली सिंहनी भी तो अपने शावक को चाटती-चूमती फिर मन्मन की सेठानी तो मानवी थी। रत्नपाल की जननी होते हुए भी वह उसकी माता ही थी। रत्नपाल ने उसका प्रत्व उसी तरह मिटा दिया था, जैसे पावस के घन दिवालोक मिटा देते हैं। अब तो महाकृपण मन्मन भी उदार बन गया। बालक की खुशी और उसके मंगल भविष्य की कामना से कृपण याचकों को कुछ न कुछ अवश्य देता था। अब कौन जो रत्नपाल को उससे छीन लेता? मन्मन का विश्वास ाग पा और उस विश्वासरूपी दीपाधार पर रत्नपालरूपी दीप उसके घर को आलोकित करता था।

वर्ष बीते तो रत्नपाल पाँच वर्ष का हो गया। मन्मन ने उसे ग्य कलाचार्य के पास विद्याध्ययन के लिए भेजा। बहुत वी था रत्नपाल। लगता ऐसा था कि वह पढ़ा-पढ़ाया था र केवल दिखावे के लिए ही अध्ययन करता था। जन्म-ों के विद्या-संस्कार हर प्राणी को प्रतिभावान् बनाते ही हैं।

बारह वर्ष की आयु तक रत्नपाल ने बहुत कुछ पढ़ । व्यापार-वाणिज्य में तो वह इतना निपुण हो गया कि बड़ों के कान काटने लगा । किशोर वय का बालक होते हु श्रेष्ठिकुमार रत्नपाल तरुण-सी स्फूर्त प्रज्ञा वाला और था । उसमें वृद्ध का सा विवेक, गांभीर्य और परिपक्वता इतनी छोटी उम्र में ही उसने पिता मन्मन का हाथ बँटान कर दिया । लेन-देन का सब काम सम्हाल लिया ।

पुरिमताल के लोग रत्नपाल से बातें करने में सुख भव करते । उसकी निश्छल-विहँसती मुख - मुद्रा बरबस को अपनी ओर खींच लेती थी । उसके फूल-से सुकुमार में चुम्बक का सा आकर्षण था । सच में ही रत्नपाल जीत रत्न था । उसकी मुखछवि ऐसी सुन्दर थी कि पुरिम नारियाँ कहती थीं— कामदेव भी तो इससे अधिक क्य होगा ? मन्मन की सेठानी इस उम्र में भी उसके गोरे डिठौना लगा देती थी । अपने मीठे स्वभाव के कारण जितना समवयस्क साथियों का मनभावन था, उतना ही लिए लाड़ला था । मन्मन की दुकान पर आने वाले ग्रा प्राय: छोटे सेठजी कहकर सम्मान देते थे ।

इस संसार की यह अटल विशेषता है कि यहां आत यह भूल जाते हैं कि मैं कौन था और अब कौन हूँ ? हर अपने देहधारी नाम को ही अपने अस्तित्व के रूप में जान चानता है । रत्नपाल भी नहीं जानता था कि मैं कौन अपनी इस भ्रान्त धारणा से सन्तुष्ट था कि मैं परिग मन्मन का इकलौता बेटा हूँ और मन्मनप्रिया मेरी माता है । उसे सन्देह भी कैसे होता और क्यों होता

मन और सेठानी के व्यवहार के नंगेपन में किंचित्मात्र भी तो
तर नहीं था। लेकिन रात का सा अँधेरा करने वाले पावस-
भी देवलोक को सदा नहीं छिपा सकते। जो, जो है, एक
न वह वही होकर रहता है।

एक दिन मन्मन ने दूकान पर बैठे अपने पुत्र रत्नपाल से
हा—

"वत्स ! तू जिस प्रतिदाता से ऋण का धन लेने जा रहा
, वह यदि पूरा न दे तो ऋणशुल्क (ब्याज) तो ले ही आना।
ौर हाँ, सीधा घर ही जाना। दूकान पर आने की जरुरत नहीं
। मैं भी यहाँ से जल्दी घर पहुँचूँगा। मध्याह्न के भोजन
ो देर मत कर देना। हम दोनों की प्रतीक्षा में तेरी माँ भूखी
ठी रहती है।"

नटखट द्वादशवर्षीय रत्नपाल ने चुटकी बजाई तो उसके
ण्डल हिलने लगे। चुटकी बजाकर उसने मुस्कुराकर कहा—

"बस, मैं गया कि आया। आप से पहले घर पहुँचूँगा।
किन एक बात है....।"

कहते-कहते रुक गया रत्नपाल। मन्मन ने अपने लाड़ले का
ख चूमते हुए पूछा—

"रुक क्यों गए वत्स ! ऐसी क्या बात है ?"

रत्नपाल ने बताया—

"तात ! यदि मैं जल्दी पहुँच जाता हूँ तो अम्ब मुझे आपकी
तीक्षा नहीं करने देती। कहती है, तू पहले खा ले रत्न ! तू
कुमार है। वे जाने कब आयेंगे ? तू कब तक उनकी प्रतीक्षा
रेगा। मैं बड़ी दुविधा में फँस जाता हूँ तात ! एक ओर आपके
ाथ खाने का लोभ और दूसरी ओर जननी का स्नेहाग्रह।"

मन्मन पुत्र की दुविधा पर हँसने लगा। उसका मुँह ए
बार फिर चूमा और बोला—

"बड़ी कर्कशा है तेरी अम्मा। मुझे भी डांटती
कहती है, जल्दी आया करो। रत्न भूखा प्रतीक्षा करता
बेटा! तेरे विना मुझे भी तो अकेले खाना नहीं रुचता।
तो मैं तुझसे पहले ही पहुँच जाऊँगा।"

"अच्छा तात!" कहते हुए रत्नपाल प्रतिदाता—ऋए
पास ऋण वसूल करने चला गया। सवेरे की पूर्वाह्न वेला
ऋणी घर पर ही मिल गया। रत्नपाल ने तकाजा किया
ऋणी ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए फिर देने के
कहा। लेकिन दाता ऋणी की विवशता कब समझता है? स
ऋणी से दुखी इस जगत में कोई नहीं है। ऋण लेते समय
वह विवश होता है और देते समय की विवशता के कारण
दाता की भर्त्सना सहनी पड़ती है। बहुत कम दाता ऐसे हों
जो किसी पर दया करके सहयोग की भावना से ऋण देते
ज्यादातर तो ब्याज के लोभ में ही देते हैं। फिर मन्मन
वसूली की कठोरता तो वैसे भी प्रसिद्ध थी।

जब ऋणी ने रत्नपाल के सम्मुख अपनी असमर्थता
की तो रत्नपाल ने तीखे स्वर में कहा—

"आज तो मैं लेकर ही जाऊँगा। बहुत दिनों से तुम
ही टाल देते हो। संसार में ऋण लेने वाले बड़े विचित्र होते
ऋण लेते समय तो दाता से कहते हैं, तुम्हीं हमारे माई
हो। तुम जीवनदाता हो। मुझे ऋण देकर मेरी डूबती
को पार लगा दो और जब ऋण मिल जाता है तो भाव
जाते हैं। सदा दाता से बचकर निकलते हैं। ऐसे किस-कि

'गा ? ब्याज तक नहीं दी तुमने । आज तो मैं निश्चय करके
। हूँ कि खाली हाथ नहीं लौटूँगा ।"

रत्नपाल की कठोर वाणी सुन प्रतिदाता पहले तो उसी
सहम गया, जैसे बाघ की हुँकार सुनकर हिरन सहम जाता
सोचने लगा वह, 'घर में स्त्री का स्वामी उसका पति होता
ौर पुरुष का स्वामी उसका ऋण । अब मैं क्या करूँ ? यह
त तो आलथी - पालथी मार कर जम कर बैठा है ।' ऐसा
ते-सोचते तो प्रतिदाता को एकदम कुछ याद आया और
आने के साथ ही उसे रत्नपाल पर अत्यधिक क्रोध भी
ा । उसकी गर्वभरी वाणी उसके हृदय को वेध रही थी ।
ा प्रत्युत्तर देते हुए प्रतिदाता ने कठोर शब्दों में कहा—

"रे अभागे ! तू तो ऐसे बढ़-बढ़ कर बोल रहा है, जैसे मैंने
बाप से ही ऋण लिया हो । तू तो मन्मन का क्रीतदास है ।
दास होकर दाता सेठ के पुत्र की तरह गर्वीली वाणी बोलते
शर्म नहीं आती ? अपनी औकात का पता तो कर ले
े, तब मुझसे ऋण वसूल कर लेने की बात करना ।"

'यह कहता क्या है ? मैं और मन्मन श्रेष्ठी का क्रीतदास ?'
। सोचते हुए रत्नपाल ऐसे उठ खड़ा हुआ जैसे अखाड़े में चित्त
। पहलवान मिट्टी झाड़ता हुआ चारों ओर सहमा-सा देखते हुए
ता है । रत्नपाल को पैरों के नीचे की धरती घूमती-सी दीख
पी । उसका कलेजा मुँह को आ रहा था । नीचे को मुँह
काये हारे हुए जुआरी की तरह रत्नपाल अपने घर की ओर
े लगा । मार्ग में उसने एक वृद्ध व्यापारी को अकेले बैठे
। तो ऊपर चढ़ गया । वृद्ध वणिक् ने रत्न का उतरा हुआ
ानमुख देखा तो पूछा—

"रत्न ! तुम्हारा मुखकमल आज कैसे मुरझा गया ? तो सदा चहकते रहते थे। क्या तुम्हारे पिता श्रेष्ठी मन्म डाँटा है ? ऐसी क्या बात हुई वत्स ?"

"आप भी मुझे श्रेष्ठी मन्मन का पुत्र कहते हैं ? आप मन्मन श्रेष्ठी का क्रीतदास क्यों नहीं कहते ?" डबडबाई से रत्नपाल ने वृद्ध वणिक् से कहा--"पुज्य ! आप तो मेरे जीवन का रहस्य अवश्य ही जानते होंगे। मेरा अज्ञान दूर तात ! मैं मन्मन का क्रीतदास कैसे हो गया ? मेरे जनक कौन हैं ? कहाँ हैं वे ? क्या मैं उनसे मिल नहीं सकता ? समस्त अतीत बतायें पुज्य ! प्रतिदाता ऋणी ने मुझे आज का क्रीतदास क्यों कहा ?"

वृद्ध वणिक् ने रत्नपाल के सिर पर हाथ फेरा। उ माथा सूँघा और फिर बोले--

"वत्स ! यह संसार बड़ा विचित्र है। यहाँ कुछ भी होनी नहीं। तेरा जन्म-जीवन भी एक विचित्र रहस्य है है। तू मेरे परम आत्मीय जिनदत्त श्रेष्ठी का पुत्र है। आ तेरा अतीत तुझे संक्षेप में बताता हूँ।

"रत्न ! तेरे पिता श्रेष्ठी जिनदत्त बड़े उदार, धार्मिक पुरिमताल के महाश्रेष्ठी थे। तेरी जननी भानुमती साक्षात् स्वरूपा है। जब तू अपनी प्रियवादिनी माता के गर्भ में तेरे पिता की अपार सम्पत्ति रात को देखे स्वप्न की तरह हो गई। तेरे पिता ने तुझे मन्मन सेठ के यहाँ गिरवी रखा लोक-लाज से प्रताड़ित और दारिद्र्य के सताये तेरे माता-पुरिमताल छोड़ कर चले गए। अब वे कहाँ हैं और अपने कैसे काट रहे हैं, यह तो मैं भी नहीं जानता।

"वत्स ! खेद करने से कुछ नहीं होगा । सच्चा पुत्र तो ही है, जो अपने माता - पिता के कष्टों को दूर करे। अब तो तुझे पुरुषार्थ करके अपने पिता का ऋण चुकाना चाहिए। पिता का ऋण चुकाकर तू जनक-जननी की खोज करना। ऋण - शर्तों के अनुसार श्रेष्ठी मन्मन विक्रय सामग्री देकर तुझे देशान्तर भेजेंगे। लाभांश में से तू अपने पिता का ऋण चुकायेगा और तभी मन्मन का घर छोड़ने अथवा उसका दासत्व त्यागने का अधिकारी होगा।"

दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए रत्नपाल चुपचाप उठ गया। उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। वृद्ध वणिक् ने सान्त्वना दी—

"शोक को त्यागो रत्न ! निश्चय ही तुम अपने नाम को सार्थक करोगे। यह जीवन - डगर सीधी-सपाट नहीं, ऊँची - नीची है। तेरा विवेक बड़ों से ऊपर है। जा वत्स ! साहस को बटोर।"

वृद्ध को पुनः पुनः प्रणाम करके रत्नपाल नीचे उतर गया और पहले अपना लगने वाले लेकिन अब पराये के समान मन्मन के घर पहुँचा। घर जाकर कंधे झुकाकर म्लानमुख एक कोने में धरती पर बैठ गया। उसके गोरे गालों पर आँसू की धारें अब भी बनी थीं। कपोलों पर बहे आँसू यद्यपि सूख गए थे, पर उनके निशान तो थे ही।

मन्मन दुकान से घर आया तो आते ही अपनी सेठानी से पूछा—

"रत्न नहीं आया अभी ?"

"रत्न ?" सेठानी ने कहा—"एक झलक देखा तो था उसे।

शायद बैठक में होगा। उसे लेकर आओ। रसोई ठण्डी हो रही है।"

मन्मन ने देखा तो रत्नपाल को अप्रत्याशित अवस्था में धरणी पर बैठा था। अचकचाकर पूछा—

"यह क्या ? यह क्या है रत्न बेटा ? तू ऐसे क्यों बैठा है ? किसने क्या कहा है तुझसे ? क्या ऋण वसूली की राशि कहीं गिर गई ? या ऋणी से कुछ कहा - सुनी हो गई ? समझ गया। तेरी कर्कशा माँ ने कुछ कह दिया होगा ?

"चल उठ बेटा ! भोजन के लिए तेरी माँ हम दोनों की प्रतीक्षा कर रही है।"

रत्नपाल ने क्षणभर टकटकी लगाकर मन्मन की ओर देखा। आज उसे मन्मन कुछ और ही लग रहा था। उसके बार-बार कहे गए 'बेटा' सम्बोधन में आज बनावट की गन्ध आ रही थी। इसी तरह तो मन्मन पहले भी रत्न को बेटा ही कहता था। पर आज क्या बात थी ? भ्रम मिट जाने से ऐसा ही होता है। अँधेरे में साँप लगने वाली रस्सी क्या प्रकाश में भी साँप ही लगेगी ? रत्नपाल ने अपने को तयस किया और बोला—

"श्रेष्ठिन् ! आप मेरे पिता नहीं हैं। मैं भी आपका पुत्र नहीं हूँ। आप मेरे पिता - तुल्य हैं, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। चमकने वाली पीतल सोना - जैसी तो हो सकती है, पर सोना नहीं।

"श्रेष्ठिन् ! मेरे जन्मदाता पिता तो श्रेष्ठी जिनदत्त हैं और जननी हैं, भानुमती। मैं अभागा हूँ, जो गर्भ में ही नहीं मर गया। वरना मेरे कारण मेरे माता - पिता मुझसे दूर क्यों होते और क्यों मैं आपका क्रीतदास बनता ?"

इतनी स्पष्ट वाणी सुनकर मन्मन तो जैसे गिरने को हुआ। उसे ऐसी आशा कब थी कि जिनदत्त के न रहने पर भी उसके सुखों का भवन यों कच्चे घरोंदे की तरह बिखर जायगा ? सोचने लगा मन्मन— 'अपना, अपना ही होता है। कोयल के बच्चों से काग का घर कब आबाद हुआ है ? ओस से प्यास नहीं बुझती। पुरिमताल में मेरा कौन ऐसा शत्रु हो गया, जिसने मेरा सुख-स्वप्न छिन्न-भिन्न कर दिया ? क्या मिला उस चुगल-खोर को जिसने इसे इसके जन्म का रहस्य बताया।"

मन का भाव छिपा लिया मन्मन ने और रत्नपाल को अपनाने का प्रयास करते हुए बोला—

"तू ऐसी बातें क्यों करने लगा ? किसी मेरे शत्रु ने तुझे बहकाया है। जिनदत्त और भानुमती के कल्पित नाम तुझे किसने बताये हैं ? सब झूठ है रत्न ! मैं ही तेरा जनक हूँ और सेठानी ही तेरी माता है। उठ बेटा ! भोजन को क्यों देर करता है ? क्या तू नहीं जानता कि तेरे बिना तेरी माता भी भोजन नहीं करेगी ? मैं भी तो नहीं खाऊँगा। ये चुगलखोर लोग तो धुएँ के पहाड़ खड़े कर देते हैं। तिल का ताड़ बनाने वालों की कमी नहीं है।"

रत्नपाल ने कहा—

"श्रेष्ठिवर ! अब तो मैं तभी भोजन करूँगा, जब आप मुझे व्यापार के लिए देशान्तर भेजने का शीघ्र प्रबन्ध करने का वचन देंगे। आपके पास मेरे पिता का जो प्रतिज्ञा-पत्र है, उसके अनुसार मैं शीघ्र ही अपने पिता को ऋणमुक्त करूँगा।"

समझ गया मन्मन कि किसी धूर्त ने रत्नपाल को पक्की घूँटी पढ़ाई है। तभी तो इतना सरल और संकोची यह अभागा

आज कैसी बड़ी - बड़ी बातें बिना झिझक के कह रहा है। ... कोई उपाय काम नहीं करेगा । अब तो इसे भेजना ही पड़ेगा ... साक्षी पंचों की बातें मैं टाल भी कैसे सकता हूँ ?

इस तरह अपने भविष्य को निश्चय जान मन्मन ने रत्नपाल से कहा—

"मैं तेरा पिता नहीं हूँ, पर तेरा पालक - पिता तो ... ही ।"

"तो क्या मेरे माता-पिता मेरा पालन करने में असमर्थ थे ... पक्षी भी अपनी सन्तान का पालन करते हैं। मेरे पिता ... फिर भी मनुष्य थे । उनकी विवशता का लाभ उठाकर आपने मुझे गिरवी रखा। फिर भी आप मेरे पुज्य हैं । आपने मुझे ... तरह से पिता का प्यार भी दिया है । लेकिन लेन - देन के नियम अपनी जगह हैं। मैं अपने पिता का ऋण शीघ्र चुकाने के लिए चिंतित हूँ ।"

"अब ऐसा ही होगा रत्न !" मन्मन ने वचन दिया—" ... अभी से तुझे देशान्तर भेजने की व्यवस्था का आदेश प्रवन्धकों को देता हूँ। अब तो उठकर भोजन कर।"

श्रेष्ठी मन्मन और रत्नपाल—दोनों ने साथ - साथ भोजन किया। पर आज दोनों को ही सरस भोजन नीरस लगा । ... दोनों ही अपनी वास्तविकता से परिचित हो गये थे ।

मन्मन ने कुशल प्रवन्धकों को आदेश देकर जहाज ... कराया। विक्रय योग्य माल से जहाज भरा गया । कुशल ... चालकों का प्रवन्ध भी हो गया। योग, करण, दिशासूल, ... तिथि आदि की अनुकूलता देखकर प्रस्थान का शुभ दिन निश्चित किया गया । निश्चित दिन सभी सागर तट गए । मन्मन ...

ाथ नगर के अनेक सम्भ्रान्त नागरिक भी रत्नपाल को घेरे ागर तट पर खड़े थे। जहाज पर चढ़ने से पहले विनीतों में ग्रणी रत्नपाल ने सबको प्रसन्न करने वाले ये शब्द कहे—

"पुरिमताल नगर के पुज्य नागरिको, समवयस्क मित्रो और शेषरूप से श्रेष्ठी मन्मन ! मैं आप सबका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। ापका भरपूर प्यार मुझे मिला और आगे भी मिलता रहेगा। ेष्ठी मन्मन ने मुझे वह सब कुछ दिया, जो एक पिता त्र को देता है। उनके अनुग्रह से मैं रत्नजटित पालने में ला। उन्होंने ही मुझे विद्यानिष्णात बनाया और अब वही पने धन से मुझे देशान्तर व्यापार के लिए भेज रहे हैं।

"पुज्य नागरिको ! वह पुत्र अभागा है, जो अपने माता-िता के कष्टों को दूर करने का यत्न-प्रयत्न नहीं करता। मेरे ारण ही मेरे पुज्य और प्रातःवन्दनीय पिता ऋणग्रस्त होकर गर छोड़ गए। मेरे ही कारण मेरी जननी भानुमती ने कष्ट ठाये। अतः अब मैं ऋणशर्तों के अनुसार अपने पिता का ऋण काऊँगा -- ब्याज सहित चुकाऊँगा और इसी के लिए मैं विदेश-मन कर रहा हूं।

"नागरिको ! इस जहाज में जो माल भरा है, वह पूज्य ौर पितातुल्य श्रेष्ठी मन्मन का है, मेरा कुछ भी नहीं। इस ाल को बेचकर मैं जो लाभ कमाऊँगा उसमें से श्रेष्ठी मन्मन ा ऋण चुकाऊँगा और मूल इन्हें लौटाऊँगा। इसके अतिरिक्त ेष्ठी मन्मन पारितोषिक स्वरूप मुझे जो मार्ग व्यय देंगे उस र मेरा ही अधिकार होगा।"

सबने रत्नपाल के वक्तव्य को बड़े ध्यान से सुना। पुरोहित

ने रोली का तिलक लगाकर मंगल-पाठ किया । अब तो ब
जहाज पर चढ़ना ही बाकी था । सब यह जानने-देखने के लि
उत्सुक थे कि मन्मन रत्नपाल को क्या देता है ? चूंकि रत्नपाल प्र
पराया था, इसलिए मन्मन अब उसे कुछ भी देना नहीं चाह
था । अब क्यों दे ? जब उसे ऐसा निश्चय था कि रत्नपाल मे
ही वंशभास्कर है, तब तो उस पर रत्न लुटाता था और अ
फूटी कौडी भी देना नहीं चाहता था । लेकिन न देना भ
उसके वश में न था, क्योंकि शर्त ही देने की थी, इतने नागरि
के बीच मन्मन ऋणपत्र में लिखी अन्तिम शर्त का उल्लंघन कर
भी कैसे ? सोचने लगा मन्मन— 'घूरे पर गुलाल बिखेरना ह
पड़ेगा मुझे । तो क्या दूँ इस पराये को ?

मन्मन ने निश्चय किया और प्रचलित सिक्के की सबसे छो
इकाई एक मेंमुदी रत्नपाल के हाथ पर रख दी । सबने आश्च
से देखा और अस्फुट स्वरों में कुछों ने कह भी दिया—वाह
कृपणता ! जिसने बारह वर्ष तक इसके घर को आलोकित कि
उस पुत्रसम रत्न को बस एक मेंमुदी ही ? यह भी कोई मा
व्यय हुआ ? इससे क्या खरीदेगा यह बाल-व्यापारी ?"

सबके आश्चर्य का समाधान करते हुए रत्नपाल ने
अपना दो शब्दों का वक्तव्य दिया—

"नागरिकों ! शायद आप लोग इस मेंमुदी को तु
समझ रहे हैं ? पर उदारतापूर्वक दी गई इनकी यह स्वेच्छ
भेंट मेरी सफलता वल्लरी का बीज ही समझो । वट तरु का बी
कितना सूक्ष्म होता है और वट तरु की विशालता तो आपने दे
ही है ।"

इतना कह रत्नपाल जहाज की ओर जाने लगा । नागरि

: खड़े हुए उस बाल-व्यापारी को देखने लगे। कई जन उसके
थ तट तक गए। उनमें से एक वृद्ध ने तनिक एकान्त में बुला
र रत्नपाल से कहा—

'वत्स रत्न ! एक बात मेरी गाँठ बाँध लेना। अनुभव की
त कहता हूं। कहीं भी जाना और अपना माल बेचकर यथेष्ट
भ कमाना, पर भूलकर भी कालकूट द्वीप मत जाना। यह द्वीप
र्त-ठग नागरिकों का द्वीप है। वहाँ जो भी व्यापारी जाता है,
ट-पिटकर ही लौटता है। जानकार और भुक्तभोगी तो कोई
हीं जाता वहाँ। अनजान व्यापारी ही जाते हैं। तू पहली बार
व्यापार करने जा रहा है, इसलिए तुझे बताता हूँ। अच्छा,
द रखना कि कालकूटद्वीप नहीं जाना है।"

"अपनी भलाई की बात कैसे भूल सकता हूं?" विनीत
नपाल ने कहा— "पुज्य आपकी सीख का पालन मैं आदेशवत्
रूँगा। कालकूटद्वीप कभी नहीं जाऊँगा।"

बस, अब जैसे ही रत्न ने आगे पग बढ़ाया कि एक मालिन
र ही टोकरी में फूल लिए आ रही थी। ये फूल धातकी
ौर दाड़िम के थे। यह तो अच्छा शकुन बना, यह सोच रत्न-
ल ने मालिन को अपनी ओर बुलाया और बोला—

"तुम्हें तो बेचने ही होंगे ये फूल? मुझे ही दे दो। शकुन की
ोज है, यात्रा सफल होगी।"

मालिन ने कहा—

"मेरे ये तुच्छ धातकी-दाड़िम के पुष्प आपका शकुन बनायें,
ससे अच्छी बात क्या होगी? आप इन्हें यों ही ले लें, मूल्य
या लूँ इनका?"

रत्नपाल बोला—

"मालिन माँ ! मैं व्यापार करने जा रहा हूं। अतः ग्र विक्रय के नियम को क्या पग रखते ही त्याग दूँ ? यों ही तो नहीं लूँगा। मार्ग-व्यय के धन—एक मेंमुदी से पहले मैं शकुन के ये पुष्प ही खरीदूँगा।"

यह कह रत्नपाल ने मन्मन द्वारा दी गई—ताँबे की गोल-गोल मेंमुदी मालिन के हाथ पर रख दी और फूलों टोकरी लेकर जहाज में रखी। फिर **'णमो अरिहंताणं'** के मह मन्त्र का उच्चारण करते हुए रत्नपाल ने पोतवाहकों को लं उठाने का आदेश दिया। लंगर उठ गया। धीरे-धीरे जहाज सरका। फिर पुरिमताल की भूमि को दूर छोड़ता हुआ जल सागर के कक्ष को चीरते हुए आगे बढ़ने लगा। एक प्रहर तो धरती पर खड़े पेड़-पहाड़ों का दीखना भी बन्द हो गया चारों ओर जल ही जल था। ऐसा लगता था, जैसे धरती मग्न हो गई हो। बहुत दूर-दूर दूसरे जहाजों के पाल मस्तूल भी दिखाई दे जाते थे। पल-पल-पर तूफानों की आग से पूर्ण सागर-यात्रा मृत्यु-पथ पर चलना ही है और साहसी व्यापारी रत्नपाल झंझावातों के पथ—सागर पर यात्रा कर या।

4

समुद्र से घिरा कालकूट द्वीप एक छोटा-सा भूखण्ड था। द्वीप एक बड़े नगर के बराबर था। पर्वतों की उपत्यकाएँ उठाये खड़ी थीं और वन-सम्पदा का भी प्राचुर्य था। के लोग समृद्ध व्यापारी, उपार्जनक्षमता से पूर्ण किसान, ती मजदूर और गोसम्पदा वाले ग्वाले थे। सभी वर्ग के स द्वीप में रहते थे। लेकिन यहाँ के आचार-विचार और र से यह कहने की सार्थकता थी कि समुद्र-मंथन के समय लकूट विष निकला था, उसे शिव ने पिया अवश्य, पर कुछ छींटे इस द्वीप में पड़ गये थे और कदाचित् इसलिए प का नाम कालकूट द्वीप पड़ गया हो।

यहाँ के लोगों के हृदय में भी मानो कालकूट विष ही भरा क्या राजा, क्या प्रजा—सब-के-सब ठग ही थे। अपना-पेशा करते हुए यहाँ के लोग ठगी का पेशा तो सामूहिक करते थे। ऊपर से दीखने में सब-के-सब सभ्य, शिष्ट, त और सदाचारी लगते थे। पर जब भी कोई भूला-भटका व्यापारी यहाँ आता तो सब अपना-अपना जाल बिछाते जिसका दाँव लग जाता, वही अपने जाल में परदेशी री को फाँस लेता। यहाँ का राजा था कृष्णायन, जो का धूर्त और ठगों का ठग था। जाल में फँसे परदेशी का यहाँ न्याय का नाटक भी ऐसे चातुर्य से होता कि पूरा प होते हुए भी ऊपर से न्याय ही लगता।

कालकूट द्वीप के राजा कृष्णायन के सभी सभा- और राजसेवक आदि भी ठगी में प्रवीण थे। राजा के एक थी। नाम था रत्नवती। रत्नवती ग्यारह वर्ष की चपल थी। वह बुद्धि में सरस्वती और रूप में रति के समान थी। अपने पिता का ठग रूप बहुत अखरता था। पर अपने पिता सत्पथ पर लाने के लिए विवश भी थी। एक दिन उसने रानी माँ वसन्तमाला से कहा—

"रानी माँ! धाय माँ कहती थीं कि हमारे र लोग इतने बुद्धिमान् हैं कि अपने बुद्धि-जाल में अच्छे को फँसा लेते हैं। विदेश के बड़े-बड़े व्यापारी यहाँ के के चक्कर में फँस जाते हैं। क्या यह सच है माँ?"

मुस्कराते हुए रानी वसन्तमाला ने राजकुमारी से कहा—

"सच ही है बेटी। धाय माँ क्या झूठ बोलेंगी?"

"लेकिन माँ यह तो ठगी है।" राजकुमारी ने पूछा—"पिता महाराज क्या इसके लिए नागरिकों को देते?"

"यह तू उन्हीं से पूछना।" राजकुमारी के सिर फेरते हुए वसन्तमाला ने बात टाल दी। क्योंकि रानी व जब भी राजकुमारी के प्रश्नों का उत्तर देती तो प्रश्न को सुनते-सुनते ऊब जाती। अब भी उसे यही डर प्रश्न का उत्तर दूँगी तो यह फिर मेरे उत्तर में से ही निकाल लेगी। दूसरे, फिलहाल पूछे गए प्रश्न का कृष्णायन से ही था। इन्हीं दोनों कारणों से रानी ने को टाल दिया। राजकन्या सीधी राजा के पास गई

:उनके सामने भी दुहरा दिया। राजा कृष्णायन तो स्वयं
गों का सरताज था। अतः पहले तो मन-ही-मन झुँझलाया।
त प्रश्नकर्ता उसकी लाड़ली बेटी ही थी, इसलिए उत्तर
को विवश हुआ और उत्तर में एक वक्तव्य ही दे डाला।
ने कहा—

"बेटी! हर क्षेत्र में और हर स्थान पर बुद्धिमान् मूर्खों से
उठाते हैं। इसमें बुरा क्या है? यही नीति तो हमारे द्वीप
लती है। चिकित्सक एक मेंमुदी के मूल्य की औषध देकर
रजतखण्ड रोगी से ले लेता है। जानती हो क्यों? इसलिए
ोगी अज्ञान है और वह नहीं जानता कि एक मेंमुदी की
ती औषध आती है। कहीं भी देखो, यही मिलेगा। जो
ान् है, वह मूर्ख से लाभ उठाता है। मोटी भाषा में इसी
गी कहते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में ठगी का अपर नाम
तुर्य।

"रत्ना! ठगी के कारण हमारा द्वीप दूर-दूर तक बदनाम
ेकिन हमारे नागरिक, राजसेवक—कोई भी न तो किसी
टता है और न किसी का कुछ चुराता है। बस, ये लोग
बुद्धि से विदेशी को प्रभावित करके लाभ कमाते हैं। अगर
ी व्यापारी सबके सब मूर्ख ही आते हैं तो क्या करे कोई?
ो तेरे प्रश्न का उत्तर मिला?"

रत्नवती ने अपनी आदत के अनुसार दूसरा प्रश्न किया—

"पिताजी! ज्ञान के उपयोग से प्रतिदान में कुछ लेना तो
नहीं। लेकिन जब बुद्धि प्रयोग में झूठ जुड़ जाता है, तो
पाप हो जाता है। माना कि चातुर्य को ही लोकभाषा में
कहते हैं पर किसी भी तरह का चातुर्य झूठ के बिना

ठगी नहीं बन सकता। चिकित्सक एक मेंमुदी के मूल्य की द
का एक रजतखण्ड रोगी से नहीं लेता, बल्कि उस ज्ञान के
है। जिससे वह रोगी को नीरोग करता है। इसके अतिरि
तो सीधा-सीधा आदान-प्रदान है जबकि ठगी में धोखा
झूठ।

"पिताजी ! पाप के अनेक प्रकार हैं। लेकिन झूठ एक
हत्या है, जो हर काम में जोड़ा जा सकता है और जब झू
में भी जुड़ जाता हैं तो ज्ञान भी पाप बन जाता है। इस
से क्या हमारे द्वीप की नीति पाप नहीं है ? इसे भी समझा

"तू तो मुझसे भी ज्यादा बोल गई बेटी !" राजकुमा
सिर पर हाथ फेरते हुए राजा ने प्रसंग से हटकर कहा—

"जब कोई ऐसा चतुर व्यापारी आ जायगा, जो अपने
चातुर्य से हमे जीत लेगा तो उसी के साथ तेरा विवाह कर
कोई आये तो नहले पर दहला मारने वाला। हमारे द्वी
नीति तेरे वर-चयन में भी सहयोग करेगी।"

नीची निगाह करके रत्नवती ने राजा की बात सुनी
विवाह की चर्चा आते ही शरमाकर भाग गयी। मन-ही
राजा कृष्णायन बड़बड़ाता रहा—'बड़ी नटखट हैं। वैसे
भी नहीं। अब कैसे भागी। किसी दिन पराई हो जायेगी।
सवाल करती है। जाने कहाँ से आते हैं इतने प्रश्न ?'

कालकूट द्वीप के वासियों की जीविका मात्र ठगी पर
निर्भर नहीं थीं। सबके अपने-अपने काम थे। यह ठगी तो
तरह से इनकी आकस्मिक आय का साधन थी। जो भी वि
यहाँ आकर ठगा जाता, वह अपने देश जाकर कालकूट द्वी
चर्चा कर देता, इसलिए यहाँ विदेशीजन भूले-भटके ही

क बार श्रीचन्द नाम का एक भूला-भटका विदेशी व्यापारी
ाया । उसने अपने जहाज से माल उतरवाया और विचार
ा कि माल के क्रय-विक्रय में तो महीनों लगेंगे—वर्ष भी लग
। मेरे पास मूल्यवान रत्न हैं, इन्हें लिये-लिये कहाँ घूमूँगा ?
इन्हें किसी विश्वस्त व्यापारी के यहाँ रख दूँ तो निश्चिन्त
र क्रय-विक्रय करूँ । यह सोच श्रीचन्द ने बहुमूल्य रत्नों की
ा उठाई और किसी धरोहर धर्ता की खोज में चल दिया ।

श्रीचन्द कालकूट द्वीप के प्रमुख बाजार में होकर जा रहा
कि बहुत-से दुकानदारों की आँखें उस पर ऐसे टिक गईं,
किसी एक कपोत को देखकर बहुत-से बाजों की टिक जाएँ ।
तर एक, बाज अनेक । सभी बाज एक कबूतर को नहीं
ट सकते । एक ही झपट पायेगा । कौन झपटेगा, यह अवसर की
है ? यही दशा यहाँ भी थी । श्रीचन्द को परदेशी और गाँठ
ूरा समझ सभी दुकानदार अपनी-अपनी दुकानों से उसे
ाजें देने लगे— "आओ भाई ! आओ बन्धु ! बोलो, क्या
? अरे सुनो तो, बहुत अच्छा माल है ।" श्रीचन्द ने इन
ंपूर्ण बुलावों को सुना अवश्य पर गया कहीं नहीं । कुछ आगे
तो एक दुकानदार का लगा-बँधा सेवक तो नीचे उतर आया
श्रीचन्द का हाथ पकड़कर आग्रह करने लगा—

"चलो तो । हमारे मालिक बुलाते हैं ।"

श्रीचन्द झुँझला गया और हाथ झटककर बोला—

"क्यों बुलाते हैं ? 'जान-न-पहचान और बड़ी बूआ राम-
।' मुझे न कुछ खरीदना है और न कुछ बेचना है ।"

नौकर चला गया । क्या करता ? जबरदस्ती तो ठग करते
। वे तो लुभाते हैं । श्रीचन्द ने कई दुकानदारों से यही कहा

कि न तो मुझे कुछ खरीदना है और न बेचना। पर उस
में लगी चमकती-झलकती मंजूषा तो सब भेद खोले दे रही
इसीलिए सब बुलाते थे। अपने शिकार को कौन नहीं पहचा

आखिर किसी-न-किसी के यहाँ तो श्रीचन्द को अपनी
रखनी ही थी। कीमती रत्न थे, और उसके लिए कोई
श्रेष्ठी, दुकानदार या व्यापारी के यहाँ पहुँचना ही था।
को बाजार के कोने पर एक ऊँची दुकान का दुकानदार
गया। दुकान घी की थी। यह दुकान दो थड़ों की थी।
थड़े पर नौकर-चाकर थोक ग्राहकों को घी बेच रहे
मुनीम रकम गिन रहे थे। एक थड़े पर मोटी तोंद का दु
अकेला फुटकर बिक्री के लिए बैठा था। समय काटने
उसने फुटकर बिक्री कार्य मानो, मन बहलाव के लिए
लिया था। उसके पास एक खाली गद्दी ठलुआ लोगों
बैठने के लिए पड़ी थी, जो गप-शप करके दुकानदार
बहलाते थे। इसी दुकानदार के पास पहुँच गया श्री
दुकानदार ने बड़ी आत्मीयता से गद्दी की ओर इशारा कि

"बैठो भाई! परदेशी लगते हो। बैठो-बैठो।"

जब श्रीचन्द बैठ गया तो व्यापारी बोला—

"कहो, क्या सेवा करूँ आपकी?"

दुकानदार के आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से श्रीचन्द
होकर बोला—

"क्या कहूं सेठजी? यहाँ के दुकानदार तो बड़े विचि
किसी ग्राहक को कुछ लेना-देना होगा तो वह खुद ही
के पास आयेगा। देखो, मैं आपके पास आया कि नहीं।

तो मेरा बाजार में निकलना ही मुश्किल हो गया। सब
ा लगे। यहाँ क्या जबरदस्ती दुकानदारी होती है ?"

दुकानदार बोला—

"अच्छा हुआ तुम नहीं गए। बड़े ठग हैं यहाँ के लोग।
ी को ऐसे ही खींचते हैं। भोले परदेशी तो ठगे जाते हैं।
ा क्या कहूँ आपसे, कोई-कोई परदेशी भी बड़ा विचित्र
है।"

श्रीचन्द ने पूछा—

"सो कैसे ? हर परदेशी परवश और विवश होता है, भले
ह कितना ही विचित्र हो। ऐसी क्या बात देखी आपने
परदेशी में, जो विचित्र बताने लगे ? मैं भी तो परदेशी
। सुनकर मुझे भी कुछ सीख मिलेगी।"

दुकानदार ठहाका मारकर हँसने लगा। हँसते-हँसते बोला—

"अरे क्या पूछते हो भाई ? तुम भी सुनोगे तो हँसे बिना
रहोगे। बात ही ऐसी है। ज्यादा दिन की बात नहीं।
की ही तो बात है।

"ऐसा हुआ कि परसों एक परदेशी भंग की तरंग में एक
पर दूध पीने गया। उसने दुकानदार को आधे रजतखण्ड
क मुद्रा दी। दुकानदार पर टूटे मुद्राखण्ड (सिक्के) नहीं
। उसने कहा कि कल भी तो दूध पीने आओगे ? कल के
र में लग जायगा। परदेशी ग्राहक मान गया। वह भंग
रंग में था, सो चलते-चलते सोचा—दुकान की पहचान तो
ें। दूध वाले की दुकान के सामने काले रंग का बिजार
ा। बस, परदेशी ग्राहक ने पहचान मन में रख ली। दूसरे
पानसमय भंगेड़ी ग्राहक दुकान की पहचान—काले बिजार
ढने लगा। बिजार एक लुहार की दुकान के सामने बैठा

मिला । भंगेड़ी झुंझलाकर बोला—यहाँ के दुकानदार चोर हैं कि चौथाई रजतमुद्रा के पीछे रात भर में घंघा ह... दिया ।"

अब तो श्रीचन्द भी हँसने लगा । बोला—

"सचमुच बड़ा विचित्र था परदेशी । पर इसमें ... भाँग का है । मैं भी भाँग पी लूँ तो ऐसा ही कुछ करूँगा।"

दुकानदार बोला—

"भाँग की बात तो है ही । लेकिन यह भी सोचो ... मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है । इससे भले दु... भी बदनाम हो जाते हैं ।"

श्रीचन्द और कुछ कहता कि तभी एक बालिका ... आई । उसने एक पण (मेंमुदी से दूने मूल्य का एक ... देया । दुकानदार ने उस बालिका को दूना घी दे दिया । घी लेकर बालिका चली गई तो आश्चर्य के साथ श्री... पूछा—

"यह क्या ? एक पण के विनिमय में दो पण का घी ... आपने ? यह तो व्यापार नियम के एकदम विरुद्ध है।"

दुकानदार बोला—

"मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि उदारता के आवेश में ... माल ही देता हूँ ।"

"लेकिन यह तो उदारता भी नहीं है ।" श्रीचन्द ने ... "यह तो निरी मूर्खता है । कम लाभ लेना तो शुद्ध ... नैतिकता है । लेकिन दुकान पर बैठकर दूनी हानि करना ... नहीं मूर्खता है । लाभांश में से खूब दान करना तो ...

है, पर मूल्य से दूना माल वेचकर तुम अपनी दुकान कैसे चलाते हो ? ऐसी दशा में तो तुम्हें कंगाल होना चाहिए।"

अपना प्रभाव उल्टा पड़ते देख दुकानदार ने दूसरे ढंग से अपनी बात रखी। बोला वह—

"देखो भाई, निर्ग्रंथ धर्मानुयायी कहते हैं कि कोई एक सर्वनियंता सर्वेश्वर परमात्मा नहीं है और वैदिक धर्म वाले कहते हैं कि कोई एक परमात्मा है, जो समस्त जगत का नियामक, स्रष्टा, पालनहार और संचालक है। खूब उदारता के साथ मैं दूना माल देकर अपनी हानि करता हूँ, फिर भी मुझे घाटा नहीं होता, इसी से मैं कभी-कभी सोचता हूँ, कि किसी भी तरह दिया जाय, अनेक गुना होकर मिलता है। मेरा दानी स्वभाव दुकानदारी के समय भी वना रहता है और मैं ऐसी भूल कर ही जाता हूँ। अव तुम कुछ भी समझो।"

दुकानदार से प्रभावित हो गया श्रीचन्द और निश्चय किया कि इसी के यहाँ मैं अपने रत्न रख दूँ। ऐसा विश्वस्त धनी शायद कोई दूसरा न हो। इस मनो-निश्चय के वाद श्रीचन्द ने कहा—

"सेठजी ! मैं यहाँ व्यापार करने आया हूँ। यहीं से मुझे दूसरे द्वीप भी जाना है। यह मेरी रत्न-पिटारी है। इसे आप धरोहर के रूप में रख लें। लौटकर ले लूँगा।"

सुनते ही दुकानदार ऐसे विदक गया जैसे कोई साँप को देखकर चौंकता है। रत्न-धरोहर रखने से साफ इन्कार कर दिया। उसने कहा—

"यह क्या कहते हैं आप ? नहीं भाई, नहीं। मैं तो नहीं रखूँगा आपकी धरोहर। जानते हो धरोहर क्या चीज है ? पराई

धरोहर अग्नि का रूप होती है। इसे रखना प्राणों की रक्षा के समान है। मैं इस खतरे में हरगिज नहीं पड़ूँगा।"

ये बातें किसे प्रभावित नहीं करतीं? श्रीचन्द बहुत प्रभावित हुआ और दुकानदार से बार-बार अपनी धरोहर रखने का आग्रह करने लगा। कालकूट द्वीप तो ठगों का द्वीप था ही। यहाँ का बच्चा-बच्चा ठग था और यह दुकानदार भी 'पूरा' था। सो अपना प्रभाव जमाने के लिए पहले तो उसने एक पण के बदले दो पण के बराबर बालिका को घी दे दिया और अपनी उदारता की डींग हाँकी। अब, जब श्रीचन्द उसे उदार और निस्पृह समझकर धरोहर रखने को कहता था तो अपना अधिक प्रभुत्व जमाने के लिए बार-बार इन्कार करता था।

इधर जब बालिका घी लेकर अपने घर गई तो उसके पिता ने आश्चर्य से पूछा—

"पुत्री! उस ठग ने तुझे दूना घी कैसे दे दिया? वहाँ कोई प्रवासी तो नहीं बैठा था?"

बालिका बोली—

"हाँ बापू। एक परदेशी बैठा तो था। दुकानदार उससे हँस-हँसकर बातें भी कर रहा था।"

बालिका का बाप भी दुकानदार जैसा ही था। सो उसने अपनी पुत्री के कान में कुछ कहा और बोला—

"जा, इस घी का आधा वापस करके आ और परदेशी सुन ले, इस ढंग से वह सब दुकानदार से कहना, जो मैंने तुझे सिखाया है।"

"अच्छा बापू" कहकर बालिका दौड़ी-दौड़ी दुकानदार के पास गई और बोली—

"यह आपने क्या किया ? सवेरे-सवेरे आपने मुझ पर मार पड़वा दी। मेरे बापू ने मुझे पीट डाला और कहा कि अनीति का हमें सोना भी नहीं चाहिए। एक पण के बदले दो पण का घी तू क्यों ले आई ? इतना बड़ा पाप तुझसे कैसे हो गया ? अब जल्दी जाकर आधा घी वापस करके आ। सो मैं यह घी वापस करने आई हूँ।"

दुकानदार को आधा घी बालिका ने वापस दिया और श्रीचन्द सोचने लगा कि इसका पिता तो बहुत धार्मिक है। ऐसे निस्पृह और त्यागी व्यक्ति के यहाँ ही अपनी धरोहर रखूँ। अनधिकृत घी रखना उसे सहन नहीं हुआ और फौरन अपनी पुत्री को भेजा। यह सोच श्रीचन्द नीचे उतरा और बालिका के पीछे-पीछे चलने लगा। दुकानदार चिल्लाता रहा—"अरे बैठो, कहाँ चले ? रुको तो।" पर श्रीचन्द ने मुड़कर भी नहीं देखा। बालिका के पिता ने भी श्रीचन्द का सत्कार किया। पान-सुपारी दिये और पूछा—

"कैसे आये ? क्या सेवा करूँ ?"

श्रीचन्द बोला—

"ये मेरे पास कुछ रत्न हैं। इन्हें आप धरोहर रूप में रख लें। लौटकर मैं ले लूँगा।"

"नहीं भैया !" बालिका का पिता बोला—"मैं इस योग्य कहाँ हूँ ! टूटे-फूटे अपने बर्तन रखाना तो मुश्किल है। मैं तुम्हारे रत्नों की सुरक्षा कैसे करूँगा ? कोई चोर ले गया तो मेरे तो दोनों लोक बिगड़ेंगे। इसके लिए तो आप किसी धनी-मानी श्रेष्ठी के यहाँ जाएँ। मैं तो बहुत निर्धन हूँ।"

श्रीचन्द ने आग्रह किया—

"धनी भी अधार्मिक और दूसरों का माल हड़पने वाले होते हैं और आप जैसे धनहीन भी धार्मिक—पराये धन को मिट्टी समझने वाले होते हैं। आप लाख कहें, पर निस्पृहता क्या छिप सकती है? मुझे करोड़पति पर विश्वास नहीं और आप पर है।"

बालिका का पिता इतनी जल्दी राजी होना नहीं चाहता था, अभी तो वह अपना अमिट प्रभाव जमाने के चक्कर में था। संयोग से उसे अवसर भी मिल गया। तभी एक भिक्षुक वहाँ आया। उस गृही ने उठकर तुरन्त ढेर सारे चावल भिखारी को दिये। भिखारी भी ताड़ गया कि कभी-कभार एक चुटकी भर देने वाला गृही आज इतना उदार इसीलिए बना है कि इस प्रवासी को ठगना चाहता है। आज तो इसने परमान्न दे डाला अब मैं भी प्रवासी को अपने जाल में फँसाऊँगा। यह सोच भिक्षुक थोड़ी दूर तक चला फिर लौटकर आया तो बड़े पश्चात्ताप के स्वर में बोला—

"राम! राम! आज तो बहुत बड़ा पाप हो गया मुझसे जीवन-भर का अदत्त दान न लेने का व्रत खण्डित हो गया जाने कैसे आपके छप्पर का यह तृण मेरी पगड़ी में उलझा चला गया।"

अपनी पगड़ी से छप्पर का फूँस गृही को देते हुए भिक्षुक पुनः कहा—

"अपना तृण रखो और मुझे क्षमा कर दो। मैं भिखारी अवश्य हूँ। लेकिन बिना दिया तृण भी नहीं ले सकता। अदत्त तृण लेना भी पाप है और इच्छा से आप सोना दें, वह भी स्वीकार है। अब मैं इस भूल का प्रायश्चित्त कैसे करूँगा?"

श्रीचन्द अब इस भिक्षुक से प्रभावित हो गया और उसके पीछे-पीछे चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने भिक्षुक से कहा—

"आप तो मानव-रत्न हैं। पूर्वकृत दुष्कर्मों ने ही आपको भिक्षुक बना दिया, पर आपकी धार्मिकता तो वन्दनीय है। मेरी यह धरोहर अब आप ही रखें। आपसे अधिक विश्वस्त मुझे कोई नहीं मिलेगा।"

भिक्षुक ने अपना रंग जमाने के लिए कहा—

"भाग्य से भिक्षुक बना, पर दूसरों का दिया मेरे पास सब कुछ है। देखो, पत्नी घर में खीर बना रही है। पूड़ी भी बनी हैं। क्या कमी है, मेरे पास? लेकिन आपके रत्न तो मुझे गड्ढे में गिरा देंगे। लोभ पर विजय पाना क्या सरल है? मेरी नीयत बिगड़ गई तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। मैं ऐसा काम करूँ ही क्यों? आपने भी मुझ भिखारी को देखा? मैं यह खतरा कभी मोल नहीं लूँगा।"

श्रीचन्द भिखारी से और भी प्रभावित हो गया। निश्चय-सा कर लिया कि अब तो इसी के यहाँ रखूँगा अपनी धरोहर। ज्यों ही पुनः आग्रह करने को उद्यत हुआ कि वहाँ एक योगी आ गया। भिखारी पुलक उठा और बोला—

"अहा! आज मैं कितना धन्य हूँ, जो मुझ भिखारी के घर पुज्य योगी आ गए। आज संयोग भी अच्छा है। खीर-पूड़ी बनी ही है पहले इन्हें ही दूँगा।"

भिखारी तुरन्त उठा और सब-की-सब पूड़ियाँ तथा खीर योगी को वहरा दी। आशा के विपरीत ऐसी 'सरस' भिक्षा पाकर योगी भी तुरन्त अपने मठ पर पहुँचा। उसके गुरु ने पूछा—

"वत्स योगी ! आज बड़ी जल्दी लौट आये ? क्या
बस्ती में नहीं घूमे ?"

शिष्य योगी बोला—

"गुरुदेव ! बस्ती में घूमने की क्या जरूरत थी ? एक भि
के घर से ही ऐसा सरस आहार मिल गया है कि दोनों
का काम चलेगा। यह देखो, मक्खन-सी पूड़ियाँ और सुवा
यह पायस। पूरा कमण्डल ही भर दिया है।"

योगी गुरु ने शिष्य योगी से कहा—

"यह कैसे हो गया ? एक भिक्षुक ने ऐसा भोजन
दिया ? जरूर कुछ रहस्य है, इसमें और दिन तो दोपहर
घूमने के बाद इतना ही आटा मिलता था कि आधे में रोटि
बनती थीं और आधे को बेचकर दाल - घी लाते थे। आज
बनाई खीर !"

सोचने लगा गुरु योगी। फिर कुछ सोचकर बोला—

"यह बता, उस भिक्षुक के घर कोई परदेशी तो नहीं
था।"

"हाँ, एक बैठा था। धनी लगता था। उसके हाथ में
मंजूषा भी थी।"

उछल पड़ा योगी, गुरु शिष्य योगी से बोला—

"अरे तो देखता क्या है, इस सबको वापस करके
और हाँ,....... यह सब भी कहना।"

भिक्षुक से कहने के लिए कुछ बातें गुरु योगी ने शिष्य
को सिखा दीं। शिष्य योगी सब सरस भोजन लेकर पुनः भि
दानी के यहाँ पहुँचा और बोला—

"इसे वापस ले लो। मेरे गुरुजी बहुत रुष्ट हो रहे हैं।

तो नया साधक हूँ, इसलिए भूल कर गया और आपसे यह भोजन ले गया। पर मेरे गुरु तो पूरे सिद्ध हैं । उन्होंने मुझसे कहा—अरे वत्स ! ऐसा अनर्थकारी भोजन ? सूखा तृण खाकर भी बकरा हर समय कामोत्तेजित रहता है और काम को जीतने की साधना करने वाले हम योगी ऐसा सरस भोजन करेंगे तो कैसे बचेंगे ? वत्स ! हम योगी हैं । सब कुछ त्याग दिया । भोजन के लिए भी योगी का नियम है कि एक समय ही खाये । वह भी मिल जाय तो ठीक और न मिले तो हरि इच्छा । अपने पिता का अपार धन त्यागकर हम योगी बने हैं तो क्या ऐसा भोजन करने के लिए ? भोजन का सुख खण्डित सुख है । कण्ठ के नीचे उतरते ही नष्ट हो जाता है। जल्दी जा, इसे वापस करके आ।"

यह कह शिष्य योगी ने सब पूड़ियाँ और खीर वहीं रख दी और चलने लगा। उसके पीछे - पीछे ही श्रीचन्द भी लपका और चलते-चलते बोला—

"ठहरो महाराज ! मुझे भी अपने गुरु महायोगी के दर्शन कराओ। जैसा चाहता था, वैसा मिल ही गया मुझे।"

भिक्षुक दानी श्रीचन्द को जाते मुँहफाड़े देखता रहा और मन-ही-मन बड़बड़ाया— 'आया हुआ शिकार हाथ से निकल गया। अब योगी तो उसे मूँड ही लेगा। यहाँ तो सब भेड़ें ही आती हैं। भेड़ पर ऊन कोई नहीं छोड़ता पर भेड़ भी वही मूँड पाता है, जिसके भाग्य में होता है। दूसरे का पत्ता काटा था मैंने और अब मेरा ही कट गया। वाह रे भाग्य।'

योगी का मठ कच्चा ही बना था । मठ कच्चा था, कच्ची दीवार से घिरा एक परकोटा था । उसी में एक बड़ी-सी कुटिया

थी। चार-पाँच छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ भी थीं। इनमें योगी गु के चेले रहते थे। एक पेड़ पीपल का था और एक नीम का। कुछ वृक्ष केले के थे। तुलसी के बिरवा थे और फूलों की क्यारियाँ। बड़ी कुटिया के सामने एक धूनी थी। उसी के पास योगी भस्म रमाये बैठा था। उसकी जटाएँ लम्बी-लम्बी थीं।

पहले दुकानदार, फिर घी खरीदने वाली बालिका का गृही और अदत्त तृण को भी न लेने वाला भिक्षुक—इन तीनों के यहाँ चक्कर काटते हुए श्रीचन्द को सवेरे से दोपहर हो गया था। तीन ठगों से बचने के बाद श्रीचन्द अब महाठग योगी के पास आ गया। श्रीचन्द अनजान था। उसे अपनी धरोहर भी रखनी ही थी, इसलिए किसी-न-किसी के चक्कर में तो फँसना ही था। क्योंकि यहाँ तो राजा-प्रजा सब एक-से-एक बढ़कर थे।

छोटे योगी के साथ पहुँचा श्रीचन्द। झुककर प्रणाम किया और अपने आप ही बैठ गया। रत्नों की मंजूषा अपने पास ही—बगल में रख ली। योगी ने तनिक पलक उठाकर देखा और हाथ उठाकर मौन आशीष दिया। अब श्रीचन्द ने अपनी बात कही—

"योगीराज! बहुत भटकने के बाद आप तक आया हूँ। मुझ पर अनुग्रह करें भगवन्! मेरे ये रत्न आप अपने पास रख लें। यात्रा से लौटकर मैं ले लूँगा। परदेशी हूँ। अभी मुझे आगे भी जाना है।"

बस, सुनते ही योगी क्रोध से उछल पड़ा। आँखें निकाल कर बोला—

"अरे मूर्ख! तू हमें जानता नहीं? जिस माया से हम कोसों दूर रहते हैं, उसी माया को लेकर तू यहाँ आ गया? यहाँ से

धर्म-चर्चा करनी है तो कर। इन पत्थरों का अब नाम भी लेना।"

इस क्रोधवाणी से तो श्रीचन्द और भी गद्गद् हो गया। तो वह हर हालत में योगी के पास ही अपनी धरोहर ा चाहता था। अतः हाथ जोड़कर बोला—

"क्षमा करें देव! आपको जानकर ही तो आपके पास आया आप संसारियों के कष्ट दूर करते हैं तो क्या मेरा तनिक-सा ः दूर नहीं करेंगे? मुझ पर दया करें भगवन्!"

"तो तू क्या चाहता है? योगी बोला—"यही कि हम गाया का स्पर्श करें? हम तेरा हर काम करेंगे, पर कंचन मनी का स्पर्श तो हम अपनी दृष्टि से भी नहीं करते। इसे ा और अपना कोई और काम बता। हमारे लिए तो यह ी है। दूसरों का दुःख दूर करने के लिए तो हम अपने प्राण दे सकते हैं, पर ऐसा कोई काम नहीं करेंगे, जिससे हमारी ाना खण्डित हो।"

इस बार योगी ने नरम होकर बातें की थीं। सो श्रीचन्द साहस और आग्रह करने का हो गया। उसने आग्रहपूर्वक ा—

"पुज्य! आप इस मंजूषा को बिलकुल न छुएं। इन रत्नों मिट्टी ही समझें। जैसे आपके यहाँ और मिट्टी, घास-फूँस रहते हैं, ऐसे ही एक कोने में ये भी पड़े रहेंगे। आपकी धना खण्डित फिर कैसे होगी? दया करो।"

योगी मौन हो गया। मानो संकल्प-विकल्प में पड़ा हो। ३ देर सोचने का ढोंग करने के बाद धूर्तों के धूर्त योगी ने चन्द से कहा—

"अच्छा ! तुम नहीं मानते तो अपने हाथ से मंजू वहाँ रख दो।" झोंपड़ी के एक कोने की ओर संकेत करते योगी ने कहा— "इस पर फूँस डाल देना, ताकि हमारी दृ पड़े और जब भी आओ, यहीं से अपने आप उठा ले जाना।

श्रीचन्द का बोझ हल्का हो गया । यथास्थान उस करोड़ों के रत्नों से भरी मंजूषा रख दी और ऊपर से फ ढक दिया। फिर पूर्ण निश्चिन्त हो अपने क्रय - विक्रय काम में लग गया, जिसके लिए वह कालकूट द्वीप में आया।

दो बुद्धिमान व्यक्ति अपनी बुद्धि का प्रयोग दो करते हैं। एक दूसरों की भलाई के साथ अपनी भलाई और दूसरा उसी बुद्धि से दूसरों को ठगता है । पहला कहलाता है और दूसरा ज्ञानपापी। हंस और बगुला एक-से ही लगते हैं, उसी तरह धार्मिक और ठग का व्यवहार भी एक-सा ही होता है । योगपथ को बदना वाला यह योगी ऊपर से महायोगी लगता था और कैसा था, सो तो स्पष्ट हो ही गया अब।



5

अँधेरा दूर होने अथवा प्रकाश आने पर ही रस्सी के सांप बन
का भ्रम दूर होता है। यह जगत ऐसा ही एक भ्रम अथवा
ात निश्चय है और जब अज्ञानरूपी अन्धकार दूर होकर
का प्रकाश होता है तो जगत का मिथ्यात्व दूर होता है।
र जगत है क्या ? नगर, ग्राम, नदी, पहाड़, वन, सड़कें,
पशु-पक्षी, मनुष्यादि प्राणियों से पूर्ण जो कुछ हम देखते हैं,
यही जगत है ? नहीं। यदि यही जगत होता तो फिर इसी
हने वाले मुनियों को हम जगत - त्यागी क्यों कहते ? वे भी
मारी ही तरह उस स्थान पर रहते हैं, जो जगत कहा जाता
लेकिन मुनिजन आदि साधक जगत त्यागी ही हैं और तब
ना पड़ेगा कि जगत कोई दूसरी ही चीज है।

'जननी-जनक, बन्धु-सुत, दारा और तन-धन सुहृद भवन परि-
ा'—इन्हीं दस में जगत है। यही सब मिथ्या है और ज्ञानी
इन्हीं दसों के मैं-मेरा (अपनत्व) को त्यागने के कारण
ा - त्यागी होते हैं। यही दस वस्तुएँ दुःख का कारण हैं।
कि इनमें एक भी सत्य नहीं है और इनसे अपनत्व जोड़ना ही
है, और इस भ्रम का नाश ज्ञान से ही होता है।

रत्नपाल यही समझता था कि मन्मन मेरे पिता हैं और
न की प्रिया उसकी माता है। लेकिन जब ज्ञान का किंचित्
ाश हुआ तो अपनत्व का भ्रम एकदम दूर हो गया। नित्य

मन्मन के साथ भोजन करने वाले रत्नपाल को फिर वही भेष और वही मन्मन का साथ, कितना बुरा लगा ! ज्ञान होने पर रत्नपाल जान पाया कि जिनदत्त और भानुमती ही मेरे जनक-जननी हैं पर क्या वास्तव में जिनदत्त-भानुमती भी रत्नपाल के माता-पिता अथवा अपने थे ? नहीं, वे भी नहीं। ज्ञान के किंचित् प्रकाश से मन्मन से सम्बद्ध रत्नपाल का मिथ्या अपनत्व दूर हुआ और जब ज्ञान का और प्रकाश होगा, तभी लगेगा कि कोई भी अपना नहीं। जिनदत्त रत्नपाल का कुछ था और न रत्नपाल जिनदत्त का। लेकिन हम सभी मोह-निशा में सोने वाले हैं। रत्नपाल और जिनदत्त भी मोह-रात्रि में हम सब की तरह सो रहे थे। रात्रि में सोने पर ही सपना देखा जाता है। जिनदत्त का वसन्तपुर में रहते लकड़ी काटकर जीवनयापन करना, रत्नपाल का पिता का ऋण चुकाने के लिए व्यापार करने विदेश प्रस्थान करना आदि सब वे क्रियाएँ थीं, जो मनुष्य सोते समय सपने में करता है।

लकड़ी का बोझा उठाते-उठाते जिनदत्त की कमर झुक गई थी और कुठार चलाते - चलाते उसके हाथों में ठेक भी पड़ गई थी। आज कौन कहता कि यही लकड़हारा किसी दिन पुरिमताल नगर का महाश्रेष्ठी था ? जीवनडगर में ऐसे ऊँचे-नीचे चढ़ाव उतार आते हैं, फिर भी मनुष्य इनके कारणों पर विचार नहीं करता। इससे बड़ा आश्चर्य कोई और होगा ? लेकिन कभी पूर्वसंस्कारों के सहयोग से कभी-कभी हमें जगाने वाले भी मिल जाते हैं। एक दिन ऐसा ही हुआ कि वसन्तपुर में सोते हुओं को जगाने वाले एक ज्ञानी मुनि आ गए। उनकी देशना सुनने सभी लोग गए। वसन्तपुर का राजा जितशत्रु और रानी गुणमाला के अतिरिक्त सभी सभासद् और सचिव भी थे। प्रजाजन भी हजारों

संख्या में थे। दृढ़व्रती श्रावक जिनदत्त भी संयोग से पहुँच
। वस्तुतः वह कुठार लिए लकड़ी काटने जा रहा था, पर
उद्यान में भीड़ देखी तो जिज्ञासावश पहुँच गया और फिर
वन्दना करके उनकी देशना सुनने बैठ गया।

मुनिश्री ने धर्म का तत्त्व विस्तार से समझाया। श्रावक
श धर्म पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए वे बोले—

'हम अपने छोटे-छोटे दैनिक क्रिया-कलापों पर ध्यान दें तो
ों से बच सकते हैं। यहाँ वसन्तपुर के जंगलों में बहुत से
हारे लकड़ी काटने जाते होंगे। वे ही क्यों, हम सभी किसी-
सी रूप में वनस्पतियों का—वृक्षों का उपयोग करते हैं।
हमें क्या करना है, यह देखने की बात है। दातुन के लिए
स-बारह अंगुल की छोटी टहनी की आवश्यकता होती है
हम बहुत बड़ी टहनी तोड़ डालते हैं। यदि हमें किसी वृक्ष
र पत्तों की आवश्यकता है तो चार ही तोड़ें, लेकिन पूरा
, डाल या टहनी तोड़कर चार काम में लेते हैं और शेष
फेंक देते हैं। ऐसा क्यों करते हो भाई? वृक्ष भी प्राणवान्
ाना कि ये एकेन्द्रीय जीव हैं और इनके बिना हमारा काम
चलता, पर इनका प्रयोग यदि हम धर्म-अधर्म का विचार
करेंगे तो हम इनका उपयोग भी कर लेंगे और अधर्म से
बचेंगे। अतः लकड़हारों को भी चाहिए कि वे भूलकर भी
क्ष न काटें—कदापि न काटें। विश्वास करें कि हरे वृक्षों
काटना धर्म और काटना पाप है। धर्म कैसे है और पाप
है, इसे भी समझें।''

कुछ क्षण मौन रहकर मुनिश्री ने पुनः

ध्यान से सुन रहा था, क्योंकि मुनिश्री की यह बात उसी के व
मान पेशे से सम्बन्धित थी। मुनि बोले—

"भव्य जीवो! हरे पेड़ और वनस्पति भी हमारी ही त
प्राणवान् हैं। इनमें भी जीवन है और है जीने की चाह।
का डर भी है। ये सब भी आहार करते हैं और कुठार
कर काँपते भी हैं। लेकिन ये हमारी तरह पंचेन्द्रीय जीव
हैं और इसीलिए बोलकर अथवा अपने हावभावों से अपनी
वेदना तथा भय प्रकट नहीं कर सकते। हरे पेड़-वनस्पति
काटकर तुम हिंसा से बचोगे और तुम्हारा कुछ बिगड़ेगा
नहीं। इससे तुम्हारे मन में अन्य सभी प्राणियों के प्रति स
भूति और दया की भावना आयेगी। हरे पेड़ों को काटने
त्रस जीवों पर भी दयावान होगा। अहिंसा-पालन का मह
चरण है। वैसे भी पेड़ों की उपयोगिता असंदिग्ध है। इनसे
शीतल-सुखद छाया, फल-फूल मिलते हैं और वर्षा को बुल
भी पेड़ सहायक बनते हैं।"

जिनदत्त पहले से ही दृढ़व्रती श्रावक था और सदा सू
ही काटता था। लेकिन मुनि द्वारा पुनः सुनने पर उसने ह
न काटने के अपने नियम को और पक्का कर लिया। देश
समाप्ति पर वन में गया और सूखा काष्ठ लाकर बेचा
उसका धर्मनियम सुचारु रूप से चल रहा था। लेकिन कभी
धर्म भी बड़ी कठोर परीक्षा लेता है। लेनी भी चाहिए।
भी क्षेत्र में परीक्षा के बिना उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण का पता
नहीं चलता। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी परीक्षा का नि
सोना यदि आग में न तपे तो कुन्दन कैसे कहलाये और
जातरूप पर्याय को कैसे सार्थक करे? धर्म-पथिकों को भी

ता है। एक बार की पावस ऋतु ऐसी आई कि जिनदत्त को ढूंढने पर भी सूखा काष्ठ नहीं मिला और उसके भूखों मरने की नौबत आ गई और तभी उसे साथी लकड़हारों ने सुझाया कि आपत्ति-काल में मर्यादा नहीं होती है इसी अपवाद नियम से गीली लकड़ी काटने से भी अधर्म नहीं होगा। अपने इस सरल विवेक और नियम के कारण जिनदत्त और भानुमती को दो दिन तक भूखा रहना पड़ा। पर कब तक रहते भूखे ?

× × × ×

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी सच्चे अर्थों में जीवनदाता, ताप मिटाने में समर्थ, जगतपालक, वनस्पति का उत्पादक, कृषकों का एक मात्र सहारा और नदी-नद का प्राण वर्षाकाल आया। वसन्तपुर नगर के लोग उल्लास और उमंग से झूम उठे। किसानों के लिए तो चिरप्रतीक्षित पर्व ही आ गया। आकाश में भरे मेघ महिष-से काले होते हुए भी नयनाभिराम सौन्दर्य से युक्त थे। पावस के घन नगर में अँधेरा करते हुए भी सबके मन में आनन्द का प्रकाश भर रहे थे। क्षणिक प्रकाश वाली तड़ित-ज्योति मानो भविष्य के उज्ज्वल प्रकाश का संकेत देती थी। बादलों की कर्णभेदी गर्जना भी कर्णप्रिय थी। दान से बड़ा कुछ भी नहीं, मानो यह सोचकर ही पावसघन अनवरत बरसने लगे और संचय निरर्थक है, इस विवेक को धारण करके परनाले बहने लगे।

वसन्तपुर में खूब पानी बरसा। तुच्छ सरोवर वर्षादान का पानी नहीं समेट पाये, इसलिए पानी उछलकर बहने लगा। जैसे वसन्त के स्वागत में वसन्त-दूती कोयल कुहू-कुहू करके वसन्त का स्वागत करती है, वैसे ही वर्षा के स्वागत में मेंढक समूह-गान

करते हुए टर्राने लगे। वर्षा रुकने के बाद जब आकाश निरभ्र हुआ तो किसानों के दल हल-बैल लेकर निकले और लकड़हारे लकड़ी काटने। पर जिनदत्त तो पहले दिन ही खाली हाथ लौटा।

चारों ओर हरा-हरा ही दीखता था। जाने कब के पड़े बीज अंकुरित हो गये थे। और तो और सूखे वृक्षों पर भी कोंपलें फूट आई थीं। जिनदत्त ने जंगल का चप्पा-चप्पा छान डाला पर उसे सूखा काष्ठ कहीं नहीं मिला। अब क्या करे जिनदत्त? धर्म-संकट में फँस गया बेचारा। यदि लकड़ी काटता है तो हरे वृक्ष न काटने का नियम भंग होता है और यदि नहीं काटता है तो जीविका नहीं चलती। लेकिन धर्मवीरों के लिए धर्म ही सब कुछ होता है। जिनदत्त धर्मवीर ही था। उसे सूखा काष्ठ नहीं मिला तो हरा नहीं काटा और खाली हाथ घर लौट आया।

आज जिनदत्त को बहुत देर हो गई थी। प्रतीक्षा करते-करते भानुमती की आँखें पथरा गईं। उसके मन में तरह-तरह की आशंकाएँ भी उठ रही थीं—'वर्षा ऋतु का समय है, अंधेरे में मार्ग भी नहीं सूझता। अन्य दिनों तो दिन में ही आ जाते थे और आज तो दिये जलने पर भी नहीं आये। मैं कहाँ ढूंढ़ने जाऊँ?' भानुमती यह सब सोच ही रही थी कि जिनदत्त भीतर घुसा। भानुमती की आँखें हर्ष से चमक उठीं। बोली—

"आ गए स्वामी!"

फिर उठकर उसने हाथ से कुल्हाड़ी लेकर रखी। हाथ-मुँह धुलाया और जब जिनदत्त बैठ गया तो बोली—

"आज आप चिंतित-से लग रहे हैं। क्या बात हुई? लकड़ी का बोझा कहाँ है आज? क्या सीधे ही बेच आये? और किसी

कुछ काष्ठ पहले घर रखकर तब बेचने नगर में जाते थे। हमारी कुटी तो मार्ग में ही पड़ती है। कुटीर छोड़कर आप सीधे ही नगर चले गये थे क्या ? कहें स्वामी ?"

"रत्नमात ! क्या कहूँ और क्या न कहूँ ?" जिनदत्त ने गम्भीर होकर कहा— "मैं बड़े धर्म-संकट में फँस गया हूँ। हरे वृक्ष कैसे काटूँ ? धर्म जाता है। सूखा काष्ठ कहीं नहीं मिला। आज सन्ध्या तक वन में निर्जीव काष्ठ की ही गवेषणा करता रहा।"

"तो इसमें चिन्ता की क्या बात है ?" जैसे कुछ हुआ ही न हो, ऐसे ही भाव से भानुमती ने कहा— "आर्यपुत्र ! पेट तो कुत्ते-बिल्ली भी भर लेते हैं। यदि मनुष्य भी धर्माधर्म का विचार किये बिना जीविका चलाये तो वह मनुष्य कैसा ? आज नहीं तो कल और कल नहीं तो कभी भी शुष्क काष्ठ अवश्य मिलेगा। व्रत वाले का व्रत निभकर रहता है। धर्म का पालन करते हुए यदि प्राण भी चले जाएँ तो अच्छा ही है।"

ऐसी थकान में भी जिनदत्त ने प्रिया भानुमती को अंक में भर लिया और पुलककर बोला—

"प्रिये ! आज ही मैं समझा हूँ कि पत्नी को धर्म-संगिनी क्यों कहते हैं ? तुम मेरा सम्बल हो। तुम्हारी बातें सुनकर तो मेरा धर्मोत्साह दूना हो गया है। धन्य हो तुम।"

मुस्कुराई भानुमती। बोली—

"झूठी शेखी मारते हैं आप तो। धर्म-पालन के प्रेरक तो आप ही हैं। भाग्य से ही एक-से स्वाभाव-विचार के पति-पत्नी मिलते हैं।"

इसी तरह दोनों में बातें होती रहीं। फिर सोये भी। रात

कटी। सवेरा हुआ। प्रभात कृत्यों से निवृत्त होकर जिनदत्त फिर जंगल की ओर चल दिया। रास्ते में अन्य लकड़हारे मिल गए। पूछा एक ने—

"जिनदत्त हो ! कल मिला क्या सूखा काष्ठ ?"

जिनदत्त ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी ओर से उत्तर देते हुए एक दूसरे लकड़हारे ने पहले से कहा—

"मिलता कहाँ से ? क्या सूखा काष्ठ आकाश से टपकता ? यह भी सागर में गीला ढूँढ़ता है। कल बेचारा खाली हाथ ही लौटा।"

पहले ने दूसरे से पूछा—

"तब तो पत्नी बड़ी झल्लाई होगी। रात भर लड़ी होगी। उसका लड़ना भी ठीक ही है। मैं जब कभी बोझा लेकर नहीं ाता हूँ तो मेरी तो काटने दौड़ती है। कहती है अब रोटी क्या ..री टाँगें जलाकर सेंकूँ।

दूसरे लकड़हारे ने जिनदत्त से पूछा—

"जिनदत्त भैया ! क्या आज भी हरे वृक्ष नहीं काटोगे ?"

जिनदत्त ने कहा—

"जब सूखा नहीं मिलेगा तो हरा भी नहीं काटूँगा।"

तीसरे ने जिनदत्त का हाथ पकड़कर कहा—

"जिनदत्त ! सच तू बहुत भोला है। देख जब तेरा शरी ही नहीं रहेगा—जीवन ही नष्ट हो जायगा तो धर्म का पा किससे करेगा ? कहावत नहीं सुनी—'काया राखे धर्म है।' यह भी सुना होगा कि आपत्ति काले मर्यादा नास्ति।'

"जिनदत्त ! सूखा इंधन तो मिलेगा नहीं। भोले राम धर्म तो धनियों के लिए है। रोज कुआँ खोदकर रोज पानी प

वाले हम-जैसों के लिए धर्म-वर्म कुछ नहीं है। हरे वृक्ष न काटें तो खायें क्या ? फिर ग्रीष्म काल में तो हम भी सूखे पेड़ ही काटते हैं, पर वर्षाकाल में तो असम्भव है। तू भी हमारी तरह ही हरे पेड़ काट। वरना आज भी खाली ही लौटेगा।"

"तुम कह चुके अपनी बात !" जिनदत्त बोला—"अब मेरी सुनो। मैं भी तुम्हें भोला समझता हूँ। धर्म का मर्म तुमने जाना ही नहीं। अरे क्या धनी अधर्मी नहीं होते और क्या निर्धन धर्म-निष्ठ नहीं होते ? धर्म-पालन का सम्बन्ध धन से नहीं, धारणा से है। अब रही काया राखे धर्म की बात। सो भी सुनो, धर्म पालन करने के लिए शरीर को स्वस्थ-नीरोग रखना चाहिए और जीने के लिए भोजन भी करना चाहिए। अतः जिस काम (धर्म) के लिए शरीर की सार्थकता है, उसी काम—धर्मपालन में शरीर नष्ट भी हो जाए तो इससे अच्छा क्या है ? प्राण रहते मैं अपने नियम पर अडिग रहूँगा।"

"ठीक है प्यारे !" एक ने व्यंग्य में कहा—"तो फिर ढूँढ़ते रहो। सूखी लकड़ियाँ तो आज भी नहीं मिलेंगी और कल भी नहीं।"

चलते-चलते दूसरा भी कहता गया—

"एक दिन हमारी राह पर भी आ जाओगे।"

किसी को कुछ उत्तर दिये बिना जिनदत्त वन में भीतर पैठ गया और शुष्क काष्ठ की खोज करने लगा। लेकिन संध्या तक भटकने के बाद आज भी जिनदत्त को निर्जीव काष्ठ नहीं मिला। खाली हाथ ही घर लौटा। आज भी जिनदत्त और भानुमती भूखे सोये। यों नियमपालन के साथ तप भी हो गया।

तीसरे दिन जब जिनदत्त घर से चला तो एक नारी पानी से भरा घट लिए द्वार से गुजरते हुए मिली। भानुमती बोली—

"आर्यपुत्र ! आज तो सूखा काष्ठ अवश्य मिलेगा, क्योंकि शकुन अच्छा बना है।"

"आज तो मिलेगा ही। मैंने भी एक बात सोच ली है।"

"क्या ?" भानुमती ने पूछा—"आप भी क्या शकुन के आधार पर कह रहे हैं ?"

"नहीं प्रिये !" जिनदत्त बोला—"आज मैं सुदूर वन में वहाँ जाऊँगा, जहाँ कोई लकड़हारा नहीं पहुँचता। जब वहाँ कटाई ही नहीं होती, तो वहाँ अवश्य पुराना शुष्क काष्ठ मिलेगा।"

"लेकिन आर्यपुत्र ! इतनी दूर से आप बोझा लायेंगे ?" भानुमती ने पति की दुर्बलता को देखते हुए कहा—"यह तो बड़ा कठोर श्रम होगा।"

"होगा तो।" जिनदत्त ने कहा—"लेकिन काम तो दोनों करते हैं। धर्म-पालन के साथ जीविका और जीविकोपार्जन के साथ धर्म। मैं चलता हूँ।"

यह कहते हुए जिनदत्त खोज के पथ पर बढ़ गया डेढ़ प्रहर तक चलने के बाद वह एक पहाड़ी वन में पहुँचा। यहाँ निपट एकान्त था। न तो यहाँ लकड़हारे आते थे और न चरवाहे। इतनी दूर कोई क्यों आये ? जिनदत्त भी विवश होकर और भाग्य प्रेरणा से आया था। इस वन में मोहक सुवास से पूर्ण हवा बह रही थी। ढूँढते-खोजते जिनदत्त एक पहाड़ी ढाल पर आ गया। यहाँ बहुत से सूखे- निर्जीव पेड़ उसे एक ही स्थान पर मिल गए। जिनदत्त ने अपने से कहा—

"अरे ! इतना काष्ठ। मेरी आधी जिन्दगी तो बड़े आराम से कट जायगी। वर्षों काम चल जायगा। भाग्य ने मेरा खूब साथ दिया। एक ही स्थान पर इकट्ठा सूखा काष्ठ मिल गया। ....लकड़ी भी काटूँगा। पहले थोड़ा बैठ लूँ। यहाँ की बयार कितनी सुगन्धित है ?"

थोड़ी देर बाद जिनदत्त ने एक गट्ठर काट लिया और झटपट नगर की ओर चल दिया। नगर में घुसने से पहले ही जिनदत्त को श्रेष्ठी धनदत्त मिल गया। श्रेष्ठी धनदत्त वसन्तपुर के गण्यमान्य सेठों में से था, पर था पहले नम्बर का धूर्त्त। वह धार्मिक था, पर ऐसा ही जैसे बगुला होता है। बड़ा मीठा बोलता। ऐसा घिघियाकर बातें करता था, मानों विनम्र से बड़ा कुछ और हो। जो भी हो धनदत्त ने जिनदत्त के सिर के गट्ठे पर हाथ लगाकर कहा—

"लो उतार लो भाई ! थक गए होगे।"

जिनदत्त ने बोझ उतारकर रख दिया। थक तो वह गया ही था। मन में सोचा, बड़े भले आदमी हैं। इतने बड़े सेठ होकर भी मेरा इतना खयाल किया। जिनदत्त को मौन देख धनदत्त ने पूछा—

"क्यों भाई, बेचोगे या घर के लिए ले जा रहे हो ?"

"बेचूँगा सेठ जी ! हमारा तो रोज का ही काम है।"

"ठीक है।" धनदत्त ने कहा—"ठीक-ठीक मूल्य बता दो। यदि ठीक कहोगे तो जितने माँगोगे, मैं उतने ही दूँगा। आकृति से तुम मुझे भले आदमी लगते हो। मोल-भाव करना मुझे ज्यादा अच्छा नहीं लगता।"

जिनदत्त ने ठीक-ठीक ही मूल्य बताया—

"सेठजी ! यदि वर्षाकाल न होता तो मैं आपसे दस मेंमुदी लेता। अब बारह लूँगा। इससे कम नहीं। आप चाहें तो लें और....।'

"ठीक है, ठीक है। मैं लूँगा भाई !" धनदत्त ने बड़ी विनम्रता से कहा—"तुमने बिल्कुल ठीक माँगा है। इतना ही मूल्य मैंने भी आँका था। लेकिन मैं तुम्हें सोलह मेंमुदी दूँगा। तुम इस बोझे को मेरे घर तक पहुँचा दो।"

"इसे तो मैं वैसे ही पहुँचा दूँगा।" यों कह जिनदत्त ने बोझा उठाया और धनदत्त के पीछे-पीछे चल दिया। सेठ का घर आ गया। जिनदत्त ने गट्ठर यथास्थान पटक दिया। ·किन सेठ धनदत्त ने जब सोलह मेंमुदी दिये तो जिनदत्त ला—

"नहीं सेठ ! लूँगा मैं बारह ही। धर्म का पालन हम जैसे नर्धन भी कर लेते हैं। मेरा आपसे बारह मेंमुदी तय हुआ है। ससे अधिक क्यों लूँ ?"

धनदत्त ने आग्रह किया—

"चार मेंमुदी अतिरिक्त तो तुम्हें लेने ही पड़ेंगे। क्योंकि मुझे इन्हें रखने का अधिकार नहीं है। देखो भाई, जिस स्थान पर हमारा मोल-भाव हुआ था, मुझे वहीं काष्ठ ले लेना चाहिए था। यहाँ तक तो तुम सौदा तय होने के बाद लाये हो, अतः यह तुम्हारा अधिकार-धन है।"

धनदत्त का आग्रह जिनदत्त को मानना पड़ा। धनदत्त की धार्मिकता से प्रभावित होकर जिनदत्त ने कहा—

"सेठजी ! आप जैसा धार्मिक इस वसन्तपुर में शायद ही कोई हो। आज मैंने सब कुछ नया देखा है। आपने जिस न्याय-नीति से मुझे अतिरिक्त मजदूरी दी, इतना कौन सोचता है ?"

धनदत्त ने भी आत्म-प्रशंसा की—

"अब अपने मुँह अपनी प्रशंसा क्या करूँ ? यहाँ के सभी सेठ निर्धनों का शोषण करते हैं, पर मुझे यह पसन्द नहीं। तुम पसीना बहाकर काष्ठ काटते हो, यहाँ तक लाते हो, तो क्या तुम्हारी चार मेंमुदी रखकर मैं वसन्तपुर का राजा जितशत्रु बन जाऊँगा। यह तो अपनी-अपनी समझ है।"

जब जिनदत्त चलने को मुड़ा तो धनदत्त ने दयार्द्र होकर कहा—

"अरे सुनो ! अब तुम्हें कहीं भटकने की जरूरत नहीं है। रोज यहीं दे जाया करो। इतने ही काष्ठ की सोलह मेंमुदी तुम्हें नित्य मिल जाया करेंगी। अब इतना बड़ा घर है। हमें तो नित्य ही ईंधन की जरूरत पड़ती ही रहती है।"

इस नये आश्वासन से जिनदत्त निहाल हो गया। वर्षाकाल तो चार ही महीने का होता है और उसे अनेक वर्षों के वर्षा-काल के लिए एक ही स्थान पर सूखा काष्ठ मिल गया था और विशेष बात धनदत्त का नित्य काष्ठ खरीदने का आश्वासन। जिनदत्त को बँधा-बँधाया ग्राहक मिल गया और मूल्य भी बारह मेंमुदी की जगह सोलह मेंमुदी। बीच में थोड़ी-सी डगमगाई उसकी नैया, फिर स्थिर गति से चलने लग गई। धर्म-संकट से पार हो गया जिनदत्त—पुरिमताल का श्रेष्ठी और वसन्तपुर का लकड़हारा जिनदत्त।

इधर धनदत्त ने अपनी प्रिया धनश्री को बुलाया और भीतर एकान्त में वहाँ ले गया, जहाँ उसने जिनदत्त के काष्ठ को उठाकर रखा था। उस काष्ठ की ओर संकेत करते हुए धनदत्त बोला—

"देखती हो, यह क्या है ?"

"हाँ, देखती तो हूँ। वही काष्ठ है जो अभी आपने मोल लिया था।" धनश्री बोली, पर आपने इसे "यहाँ छिपाकर क्यों रख दिया है ?"

"अरे ! तुम भी उस लकड़हारे की तरह मूर्ख ही हो। लो देखो।" धनदत्त ने एक काष्ठखण्ड धनश्री की नाक के पास रख दिया। चौंककर बोली धनश्री—

"हाय ! ऐसी सुगन्ध। कमाल की सुवास है, इस काष्ठ में। चन्दन .. ?"

"बैठो-बैठो" धनश्री का हाथ पकड़कर उसे बैठाते हुए धनदत्त बोला—"प्रिये ! यह साधारण चन्दन नहीं है। यह दुर्लभ अमरचन्दन है।"

"अमरचन्दन ?" धनश्री ने एक ही शब्द में लम्बा प्रश्न किया।

धनदत्त ने उत्तर दिया—

"हाँ भई, अमरचन्दन। इसे ही हरिचन्दन अथवा गोशीर्ष चन्दन भी कहते हैं। लोक-भाषा में इसे ही बावना चन्दन कहते हैं। इसका मूल्य कोई नहीं आँक सकता। मैं इससे कोटि धन लूँगा और अवसर देखकर विदेश में बेचूँगा, तब देखना तुम मेरी सम्पत्ति को। यहाँ का नगर-सेठ भी चक्कर काटेगा।"

"प्रिये ! जानती हो आज क्या हुआ ? मैं यों ही वन की ओर जा रहा था। एक लकड़हारा मिल गया। उसके सिर पर बावना चन्दन का यह बोझ था। दूर से ही इसकी सुगन्ध ने मुझे खींच लिया और आश्चर्य यह है कि जिसके सिर पर यह रखा था, वह स्वयं इसकी गंध नहीं सूँघ पाया। बड़ा सस्ता सौदा पट गया। लाखों-करोड़ों मुद्राओं के मूल्य का गट्ठर कुल सोलह मेंमुदी में। अनुमान करो इतने रोज से कितना हो जायगा।........और हाँ, किसी को भेद मत देना।"

"मुझे क्या आप पागल ही समझते हैं? मैं क्यों भेद दूँगी किसी को ?"

धनश्री ने भेद न देने का आश्वासन दिया पति धनदत्त को। धनदत्त की दृष्टि में धनदत्त धार्मिक ही नहीं, महाधार्मिक था। जो भी हो इस सौदे से दोनों ही खुश थे। जिनदत्त अपनी सरलता और सीधेपन के कारण बँधे-बँधाये ग्राहक को पाने के कारण खुश था और खुश था, बारह की जगह सोलह मेंमुदी रोज गट्ठर बिक जाने के आश्वासन से और धनदत्त अपनी ठगी की सफलता के कारण खुश था, क्योंकि लाखों मुद्राओं का माल कौड़ियों मिलने का स्रोत उसे मिल गया था।

बावना चन्दन की सुवास तो दूर से ही खींचती है। वन में जाने पर जिनदत्त को सुगन्ध ने प्रभावित किया था। सिर पर रखे बोझ में से जो सुगन्ध उठी, उसने भी उसे प्रभावित किया ही होगा, पर भाग्यदोष से उसने अमूल्य हरिचन्दन को सामान्य काष्ठ ही समझा। भाग्य ऐसी ही चीज है। इसके प्रभाव से मनुष्य सोने को मिट्टी समझकर फेंक देता है और मिट्टी में से सोना यों ही ढूँढ लेता है। ×

6

सागर मध्य का प्रभात, संध्या और रात्रि सब [illegible] भिन्न ही होते हैं। रत्नपाल इस भिन्नता को देखता हुआ [illegible] पोत में ही रात-दिन गिनते हुए बढ़ रहा था। जब भी चारों ओर फैले और गुरु-गर्जन करते हुए जल पर उसकी दृष्टि टिकती [illegible] धक्-धक् करने लगता था। सागर पार होना कितना दुष्कर है। तूफानों की आशंका तो पल-पल बनी रहती है। लेकिन भवसागर का पार करना तो और भी कठिन है। कठिन के साथ सरल भी इतना कि पार होते देर नहीं लगती। काठ की नौका तो तूफानों और लहरों के टकराव से चाहे जब डूब जाती है और तब [illegible] में ही डूबना पड़ता है लेकिन भवसागर को पार कराने वाली धर्मनैया तो निश्चित ही पार लगा देती है।

सागर का रूप तत्त्वचिन्तकों को एक दृष्टि देता है। [illegible] व्यापारी रत्नपाल भी एक तत्त्वचिन्तक की तरह समुद्र के [illegible] रूप को देखकर कुछ-न-कुछ सोचता था। अट्टहास करती [illegible] जलराशि और पहाड़-सी उठती लहरें कुछ तो सिखाती [illegible] थीं। ऊपर नीला आकाश और नीचे नीलाभ जल। सागर [illegible] लहरें बड़े वेग से तट की ओर उछलकर जाती थीं और [illegible] यह सोचकर लौट आती थीं कि सीमा अथवा मर्यादा का [illegible] घन नहीं होना चाहिए। महासागर भी यह सोचकर [illegible] मर्यादा में रहता था कि महान् व्यक्तियों को शक्ति का [illegible]

ें करना चाहिए। सागर की शक्ति-सामर्थ्य कौन नहीं जानता ? यदि अपनी सीमा तोड़ दे—मर्यादा में न रहे तो समस्त विश्व ही निगल जाए। समुद्र के गांभीर्य और मर्यादा में रहने गुण को देखकर ही तो आगमकारों ने तीर्थंकरों की उपमा गर से दी है। दान देने से दानवीरों का धन कभी नहीं घटता बात भी सागर हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से समझा देता है। लों के शून्य उदर को निरन्तर भरने वाला सागर क्या कभी होता है ? अपने दानवीरत्व के कारण तो सागर की लहरें ी-ऊँची उठकर उसकी शोभा बढ़ाती हैं।

इस प्रकार अनेक तरह की कवि-कल्पना करता हुआ जिन-का आत्म और भानुमती का लाड़ला रत्नपाल सुपुत्र की ह पिता का ऋण चुकाने के निश्चय से देशान्तर जा रहा पवन अनुकूल था। दूरी घट रही थी। लेकिन भाग्य ी विचित्र चीज है। सागर-यात्रा की समस्त अनुकूलताएँ ाकूलता में बदल गईं। एकाएक ही खल की अस्थिर की तरह बिजली चमकने लगी। आकाश में घन घिर । दिन-रात का भेद मिटाकर पानी बरसने लगा। ार तूफान आ गया। चतुर-कुशल नाविक भी घबरा । अब क्या होगा ? तूफान ऐसा कि जलसमाधि लेनी गी। सभी पोतचालक अपने-अपने इष्ट का स्मरण करने । दिशाएँ सूझती ही न थीं। डगमग करता जहाज न जाने धर बढ़ रहा था। बार-बार यही लगता था कि जहाज अब , अब डूबा।

संकटों में ही धैर्य की परीक्षा होती है। रत्नपाल ने सबको बँधाया—

"घबराओ नहीं । मृत्यु कहाँ नहीं आती ? घर बैठे ... भी मरते ही हैं और यदि पुण्य सहायक होते हैं तो सागर ... बचते हैं । जहाज टूटने के बाद भी बच जाते हैं । अभी तो ... डगमगाते ही सही, जहाज का सहारा तो है ही । यदि ... जहाज चलता रहा तो कहीं-न-कहीं तो पहुँच ही जायेंगे ।"

सबको धैर्य बँधा । भाग्य के भरोसे सब रात भर बैठे ... जब तूफान चला गया, आकाश स्वच्छ हुआ और सूर्य निकला ... सबने देखा, जहाज एक तट पर पार लग गया है । ... से किसी द्वीप-तट पर जहाज का लग जाना सुखद आश्चर्य ... रत्नपाल ने कहा —

"इसे कहते हैं भाग्य ! आखिर नैया पार हो गई । ... लंगर डालो । तट पर ही शिविर लगाओ । जाने यह कौन ... द्वीप है । जो भी हो, जब भाग्य इस अलक्षित द्वीप में ले ... है तो यहीं माल बिकेगा ।"

नाविकों ने रत्नपाल के आदेश का पालन किया । तट ... शिविर लग गया । रत्नपाल आसन बिछाकर बैठ गया । ... उसने देखा कि एक आदमी उसी की ओर आ रहा है । रत्न... भी किसी से मिलकर इस द्वीप के बारे में पूछना चाहता ... वह व्यक्ति जब निकट आ गया तो पारस्परिक अभिवादन ... बाद रत्नपाल ने पूछा—

"अहो तात ! यह कौन-सा द्वीप है ?"

आगन्तुक ने बताया —

"यही सब बताने तो मैं स्वयं ही आपके पास आया ... मैंने दूर से देखा कि आज बहुत दिनों बाद कोई परदेशी ...

मैं तो फंस ही गया चक्कर में, पर तुम नये को तो सावधान
दूं। बन्धु ! यह कालकूट द्वीप है।"

"कालकूट ?" रत्नपाल के मुँह से इतना ही निकला और मन-ही-मन सोचने लगा— 'यह कैसा आश्चर्य है कि जहाँ
[l]कर भी आना नहीं चाहता था, भाग्य ने वहीं लाकर पटक
ा। पुरिमताल से चलते समय मेरे हितैषी वृद्ध ने मुझे
धान किया था कि कहीं भी जाना, पर भूलकर भी कालकूट
मत जाना। मैंने भी उनकी सीख मानने का निश्चय किया
पर तूफान के बाद नैया पार भी लगी तो कहाँ लगी ?'

रत्नपाल को यों सोचते देख, आगन्तुक ने कहा—

"बन्धु ! मेरा नाम श्रीचन्द है। मैं भी तुम्हारी तरह
व्यापार करने आया था, पर अब तो दर-दर भटकने वाला
इस द्वीप की बातें आप क्या पूछेंगे ? इस कालकूट द्वीप में
ा-बच्चा ठग है। यहाँ के योगी-यती भी लाखों में एक है।
का राजा कृष्णायन तो ठगों का ठग— सबका सरदार है।
मैं आपबीती सुनाता हूँ। इससे प्रेरणा लेकर आप यहाँ के
से बचना।

श्रीचन्द अपनी आप - बीती सुनाने लगा—

"विक्रय-सामग्री से परिपूर्ण अपना जहाज लेकर प्रतिकूल
प्रेरित एक बार मैं यहाँ कालकूट द्वीप आ गया। मेरे पास
मूल्यवान एक रत्नकरण्डक था। मैंने सोचा कि समुद्री-
ा तो सदा शंकाओं से परिपूर्ण रहती है। अतः इस रत्न
ाथ में रखना जोखिम है। अच्छा यही है कि मैं
स्त व्यक्ति के यहाँ अपनी अमानत के रूप में इसे
ला। बाजार में पहुँचा। एक दूकानदार के प

पूर्व परिचित की भाँति उसने मेरा स्वागत किया। ... द्रव दूध ही होते हैं, ऐसा सोच उस धूर्त से अपनी ... रखने की बात कही तो बोला—नहीं-नहीं। मैंने तो धरोहर की सौगन्ध खा ली है। मैं इसका कुफल भोग चुका हूँ। ... तो वह चाहता ही था और ऊपर से इन्कार करता था। ... को सत्य हरिश्चन्द्र सिद्ध करने के लिए उसने एक बालि... एक पण के बदले दो पण का घी दिया।"

इसी तरह श्रीचन्द ने दुकानदार से लेकर घी लेने ... बालिका के पिता, तृण लौटाने वाले भिक्षुक और धरोहर ... वाले योगी का वृत्तान्त सुनाया। योगी का वृत्तान्त सुना... श्रीचन्द ने कहा—

"अन्त में मैं योगीगुरु के पास पहुँच गया। बड़ी मुश्... के बाद उसने मेरी रत्नमंजूषा रख ली। वह मुझ पर ... यह प्रभाव जमाने में सफल हो गया कि वह पूर्ण त्यागी, ... और सोने को मिट्टी समझने वाला है। उसके इस ढोंग की ... तो तब खुली जब मैं छह महीने बाद अपनी धरोहर वापस ... गया।

"प्रवासी बन्धु ! उस धूर्त योगी ने तो अपनी ... बदल ली। अपनी एक आँख फोड़ डाली। जटाएँ मुंड़ा ... जब मैंने अपनी रत्नमंजूषा माँगी तो मेरी तरफ ऐसे देखने ... जैसे मैं अजनबी हूँ। पहले तो वह गूँगा-बहरा बन गया। ... मेरे बार-बार कहने पर बोला—

"जाने तुम क्या कह रहे हो ? मैंने तो स्वप्न में ... की धरोहर नहीं रखी। अवश्य ही तुम भूल गए हो। ... है, वहीं जाओ।"

"मैंने बहुत सिर मारा। कोई परिणाम नहीं निकला। उस धूर्त योगी ने तो अपना मठ भी पक्का बनवा लिया था। बन्धु! तभी से मैं यों भटक रहा हूँ। मेरी कोई नहीं सुनता। तुम आये हो। मेरे अनुभव से लाभ उठाना और यहाँ के ठगों से बचना। यहाँ तो कुएँ में ही भंग पड़ी हुई है। सब एक-से हैं।"

"जो होगा सो देखा जायगा।" रत्नपाल ने कहा—"जब भाग्य यहाँ ले आया है तो भाग्य के भरोसे ही यहाँ के लोगों से निपटना पड़ेगा। तुम्हारा बहुत आभारी हूँ कि तुमने मुझे यहाँ की रीत-नीति से अवगत करा दिया।"

"तो मैं अब चलता हूँ। कोई आ जायेगा तो मुझे तुमसे बातें करते देख लेगा। यह अच्छा नहीं होगा।"

यह कहते हुए श्रीचन्द जिस दिशा से आया था, उसी दिशा को चला गया। प्रभात की सुनहरी धूप अब पेड़ों के ऊपर से उतरकर धरती पर फैल गई थी। सागर तट पर फैले शंख-सीपी-मूँगा आदि धूप में चमक रहे थे, और बड़े भले लग रहे थे। ये शंख-सीप मानो कह रहे हों कि जो गहरे पैठते हैं, उन्हें ही मुक्ता-रत्न मिलते हैं और उन्हीं के लिए सागर रत्नाकर है। इसके विपरीत जो तट पर ही रहते हैं, उन्हें तो बस सीप - शंख ही मिलते हैं।

रत्नपाल तट पर ही टहलने लगा। नाविक सार-सम्हाल में लगे थे। तभी रत्नपाल ने दो राज - पुरुषों को दूर से अपनी ओर आते देखा। रत्नपाल सोचने लगा— 'श्रीचन्द ठीक ही कह रहा था। शायद ये अश्वारोही और सशस्त्र राजपुरुष तट पर आये विदेशी व्यापारी को देखने आ रहे हैं। आने दो। देखूँगा, कैसे ठगेंगे मुझे?'

इधर राजपुरुष आपस में बातें करते तट की ओर आ रहे थे। एक ने कहा—

"जैसे-तैसे तो आज एक जहाज हमारे द्वीप - तट पर आया है। इस पर भी धातकी - दाड़िम के पुष्प जानें मिलेंगे और नहीं ? यदि दो-चार व्यापारी आते तो किसी न किसी पर ये दुर्लभ पुष्प मिल ही जाते।"

दूसरे ने कहा—

"यदि राजा का भाग्य होगा तो इसी एक पर मिल जायेंगे। एक ही आ गया, यही क्या कम है ? वैसे इधर आता ही कौन है ? इधर के लोग प्राय: शकुन के लिए धातकी और दाड़िम के पुष्प लेकर चलते हैं, इसीलिए मिल भी सकते हैं।"

पहले ने कुछ प्रसंग बदलकर बात कही—

"वैद्य तो अनुभवी है। राजा की नेत्र - पीड़ा ठीक करने का उसने दावा भी किया है, पर चील का मूत जैसी दुर्लभ वस्तु धातकी-दाड़िम के फूलों की बात अटका दी। हमारे द्वीप में किसी मूल्य पर नहीं मिले। ये वैद्य लोग भी बड़े विचित्र होते हैं। साफ बच गया— कहीं से लाओ, धातकी और दाड़िम के फूल लाओ। यदि इसके पास भी ये दुर्लभ फूल नहीं हुए तो फिर चील का यह मूत कहाँ से पैदा होगा ?"

"हमें इससे क्या ?" दूसरा बोला—"मिले, न मिले। होंगे तो देगा ही। मूल्य भी तो मुँहमाँगा मिलेगा।"

"तो क्या राजा दो-चार गाँव दे देगा ?" पहले ने कहा— "ठगों का ठग हमारा राजा तो सब कुछ मुफ्त में लेने का भाव रखता है।"

"ऐसी बात नहीं है।" दूसरे ने प्रतिरोध करते हुए कहा—"माना कि हमारा राजा धूर्त्त शिरोमणि है। पर मनुष्य भी तो है। चोर, कपटी, धूर्त्त, ठग, दस्यु, वधिक और पापी आदि बुरे मनुष्यों में भी सद्वृत्तियाँ होती हैं। बुरा भी नितान्त बुरा नहीं होता और भले में भी कोई-न-कोई बुराई होती है। सर्वांश में निर्दोष तो कोई नहीं होता। बुरों में भी पुण्यात्मा बनने की क्षमता होती है। अपने-पराये की भावना हमारे राजा कृष्णायन में भी है। मांसाहारिणी सिंहनी क्या अपने बच्चे को खा जाती है? जिस व्यापारी से जीवन-रक्षक फूल प्राप्त होंगे उसे भी ठगेगा हमारा राजा?"

यों बातें करते दोनों राजपुरुष रत्नपाल के समीप आ गए और बोले—

"हे तरुण व्यापारी! हम आपका अभिवादन करते हैं। यदि आपके पास धातकी और दाड़िम के पुष्प हों तो अवश्य दीजिए। हमारे राजा नेत्र-पीड़ा से व्याकुल हैं। एक वैद्य ने कहा है कि इन फूलों के बिना वह औषधि तैयार नहीं हो सकती, जिससे राजा की नेत्र-पीड़ा निश्चय ही दूर हो जायेगी। आपको मुँहमाँगा मूल्य मिलेगा।"

अपनी बात कहकर राजपुरुष रत्नपाल के मुँह की ओर देखने लगे और रत्नपाल सोचने लगा—'सचमुच ही ठग बड़े मायावी होते हैं। इन धूर्त्तों को कैसे पता चल गया कि मेरे पास ये फूल हैं। यह तो इनकी ठगी का प्रारम्भ है। फूलों का कुछ नहीं, वे तो मैंने एक मेंमुदी में खरीदे थे। दे दूँ तो क्या बिगड़ेगा? पर जाने ये आगे क्या जाल फैलायें? के नेत्र-रोग की बात इन्होंने यों ही बना ली हो।'

कुछ देर विचार करने के बाद रत्नपाल ने राजपुरुषों से कहा—

"भाइयो ! मैं तो यहाँ नया ही आया हूँ। यहाँ के लोगों से मेरा कोई परिचय नहीं। आपकी बात मुझे विश्वसनीय नहीं लगती। क्योंकि राजा की नेत्र-पीड़ा साधारण बात नहीं। फिर ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए तो महामात्य को आना चाहिए था। यदि आपके महामंत्री आयें और राजा के रोग की बात कहें तो मुझे विश्वास होगा।"

"ठीक है, ठीक है।" कहकर राजसेवक वापस मुड़े और चलते-चलते बोले—"हम महामंत्रीजी को ही आपके पास भेज रहे हैं।"

थोड़ी देर बाद ही राजा कृष्णायन का प्रधान सचिव कुछ और राजपुरुषों के साथ रत्नपाल के पास आया और राजा के नेत्र-रोग का पूरा वर्णन करते हुए कहा—

"आपके पुष्पों पर ही हमारे राजा का जीवन निर्भर है। यह नेत्र-पीड़ा असह्य और प्राणलेवा है। हमारे राजा ही नहीं, जन-जन आपका आभारी रहेगा। आप जो भी मूल्य माँगेंगे, आपको मिलेगा।"

"मूल्य की क्या बात कही आपने?" मंत्री के वचन पर विश्वास करते हुए रत्नपाल ने कहा—"आपके राजा की नेत्र-पीड़ा ठीक हो जाए, यही मूल्य है। उनका और आप सबका कृपाकटाक्ष ही मेरे पुष्पों का मूल्य है। मैं स्वयं राजा के पास फूल लेकर चलता हूँ। इसी बहाने उनके दर्शन भी हो जाएँगे। आप तनिक ठहरें।"

"हम रुके हैं। आप जल्दी तैयार हो लें।" यह कहकर मंत्री रत्नपाल की प्रतीक्षा करने लगा। इधर रत्नपाल ने माला

में हुए मैले-से कपड़े उतार कर राजसभा जाने योग्य सुन्दर वस्त्र पहने। अलंकार धारण किये। राजा को भेंट करने योग्य विशिष्ट उपहार लिये। कुछ सहयात्री साथी भी साथ लिये और पुष्पों की टोकरी लेकर मंत्री के साथ चल दिया।

यथासमय सब राजसभा पहुँचे। मंत्री रत्नपाल को उपचार गृह में ले गया। आँखों पर पट्टी बाँधे राजा उपचार शय्या पर लेटा था। वैद्य पास बैठे थे। आँखें बन्द किये और अक्षिवेदना से कराहते हुए राजा ने मंत्री से कहा--

"आह! बड़ी भयंकर पीड़ा है। मंत्रिवर क्या मिल गए फूल?"

"हाँ स्वामी!" मंत्री ने वैद्य की ओर फूलों की टोकरी बढ़ाते हुए कहा—"फूल लेकर तरुण व्यापारी रत्नपाल मेरे साथ ही आये हैं।"

"अच्छा!" मंत्री से इतना कह राजा ने वैद्य से कहा—"वैद्यराज! जल्दी औषध तैयार करो। मैं पुष्पवाहक अपने जीवनदाता से भेंटने के लिए तड़प रहा हूँ।"

"अभी लीजिए।" कहकर वैद्यराज अपने काम में लग गए। औषध और धातकी-दाड़िम फूलों को यथानुपात मिलाकर रस तैयार किया और पट्टी खोलकर एक-एक बूँद अर्क राजा की आँखों में डाला। आँखों से पानी निकला। फिर तीन बार औषध अर्क और डाला तो राजा ने स्वयं आँखें पोंछकर चारों ओर देखकर कहा—

"अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ। प्राण बच गए मेरे।" फिर रत्नपाल पर दृष्टि टिकी तो बाहें फैला दीं और रत्नपाल भी आगे बढ़कर राजा के वक्ष से लग गया। आखिर राजा भी तो मनुष्य

था। प्यार करना वह भी जानता था, सो भाव-विभोर होकर रत्नपाल से बोला—

"तो आप हैं मेरे जीवनदाता! मैं धन्य हो गया आपको पाकर।"

रत्नपाल बोला—

"इस तुच्छ सहयोग के लिए आप इतना मान दे रहे हैं, यह आपका बड़प्पन है, वरना इन फूलों का भी कोई मूल्य है?"

"मूल्य?" राजा बोला—"मूल्य तो अवसर का होता है। एक लोटा पानी का क्या मूल्य है? लेकिन एक अवसर ऐसा भी आता है, जब अथाह जलराशि वाले सागर पर चलने वाले पोत-यात्री को एक लोटा पानी नहीं मिलता तो वह अपना सब कुछ देकर केवल एक लोटा पानी चाहता है। सागर का खारी पानी प्यास बुझा नहीं सकता। उसे पीता भी कौन है और पोतवालों के पास पानी होता नहीं, तब वह कहता है कि मेरा सब कुछ ले लो और एक लोटा पानी दे दो। मूल्य पानी का नहीं, जीवन का है। मेरे उद्यानों में ऐसे-ऐसे फूल हैं कि आप देखेंगे तो दंग रह जायेंगे। पर वे मेरे किस काम के? सागर के खारी पानी की तरह व्यर्थ। आपके फूलों ने मेरे प्राण बचाये हैं। अब मेरी बात मत काटना। मैं आपका सदा आभारी रहूँगा।"

पुण्य वधिकों को भी सहृदय बना देते हैं। रत्नपाल के पुण्यों का प्रभाव ही तो था कि जिस कालकूट द्वीप में आना वह अपना दुर्भाग्य मान रहा था, वहीं का ठग शिरोमणि राजा उसके अनुकूल ही नहीं हुआ, ऋणी भी हो गया। अब रत्नपाल की बात ही और थी। अलग प्रासाद मिल गया उसे। सेवा को दास-

दासी मिले। उसके जहाज का सब सामान राजकर्मचारियों द्वारा सुरक्षित भण्डार-गृह (गोदाम) में भर दिया गया।

रत्नपाल अब नियमित स्वर्ण आसन पर राजसभा में बैठता था। अपने रूप और सौन्दर्य से वह सभा की शोभा बढ़ाता था। वय से तरुण रत्नपाल का रूप बहुत ही आकर्षक और कमनीय था। राजा कृष्णायन उस पर मुग्ध था और उसे अपना बनाने के लिए व्यग्र भी था। वह सोचता था कि यदि मैं अपनी बेटी रत्नवती का विवाह इसके साथ कर दूँ तो सदा के लिए इससे अपनत्व का नाता जुड़ जायगा। मेरा ऐसा सोचना कहीं अनुचित तो नहीं है, इसका निश्चय करने के लिए राजा कृष्णायन ने रानी वसन्तमाला से परामर्श करना उचित समझा और जब एकान्त में मन की बात रानी को बताई तो रानी ने हर्षित होकर कहा—

"स्वामी! यह तो बना-बनाया संयोग है। रत्नपाल और रत्नवती का यह मिलन पूर्व निश्चित-सा लगता है। क्या हमने अपनी बेटी का नाम रखते समय कभी सोचा भी था कि रत्नवती के लिए कोई रत्नपाल आयेगा? बड़ी नयनाभिराम जोड़ी जमेगी। चटपट कर डालो।"

"बस तो आज ही बात करता हूं।"

यों कह राजा ने रानी को विदा किया और एकान्त में रत्नपाल को बुलाया। जब रत्नपाल आसन पर बैठ गया तो बिना किसी भूमिका के राजा ने रत्नपाल से कहा—

"वत्स! सभी को अपनी कुरूप सन्तान भी रूपवान लगती है। मेरे एक ही बेटी है। उसका नाम भी तुम्हारे अनुरूप, रत्नवती है। अपनी संतान होने के कारण यद्यपि मुझे रत्नवती

लाखों में एक ही लगती है, फिर भी मैं तटस्थभाव से कहता हूँ कि वह सर्वथा तुम्हारे अनुरूप है। वह सप्त स्वरों को जानने वाली गांधर्वविद्या में निपुण, काव्य पंडिता, अनुपम सुन्दरी और प्रियवादिनी है। मैं अपनी बेटी का हाथ तुम्हारे हाथ में देकर तुम्हें अपना जामाता बनाने का इच्छुक हूँ। तुम्हारे रूप और पुरुषोचित गुणों को देखकर लगता है, तुम उसी के लिए हो और तुम दोनों का जन्म एक-दूसरे के लिए ही हुआ है। वरना तुम हमारे द्वीप में आते ही क्यों, और यदि आते भी तो मुझसे तुम्हारा सम्पर्क ही क्यों बनता?

"वत्स! तुमने मुझे जीवनदान दिया है। मेरे कन्या-दान को मेरा प्रत्युपकार मत समझना; बल्कि इस दान में तो मेरा ही स्वार्थ है।"

राजा कृष्णायन का ऐसा आश्चर्यपूर्ण प्रस्ताव रत्नपाल के लिए चिन्ता का कारण बन गया। चिन्तित रत्नपाल सोचने लगा—'हा! यह क्या होना चाहता है? मैं किस चक्कर में फँसाया जा रहा हूँ? हाथ में आये कर्त्तव्य को छोड़कर स्वर्ग के सुखों को भी न चाहना ही मनुष्य जीवन का सुन्दरतम रूप है। विवाह करके तो मैं अपना काम पूरा नहीं कर पाऊँगा। मैंने पुरिमताल नगर और श्रेष्ठी मन्मन के यहाँ का सुख इसलिए त्यागा था कि अपने पिता को ऋणमुक्त करके उनकी गोद भरूं। मेरे माता-पिता भटकते रहें और मैं यहाँ रस-केलि में फँस जाऊँ तो यह कितना निन्दनीय होगा। मैंने निश्चय किया है कि सबसे पहले मैं अपने माता-पिता को ऋणमुक्त करके उन्हें सौंपूँगा और तब अपने बारे में सोचूँगा। मैं विवाह नहीं करूँगा।

ेकिन राजा से इन्कार कैसे करूँ ? इसके घर, क्या मेरी हेकड़ी
चलेगी ?'

यों रत्नपाल विचारों की उधेड़-बुन में लगा रहा। उसे मौन
ख राजा ने पूछा—

"चुप क्यों हो ? क्या सोचने लग गए ? तुम्हें असुविधा
या है ? कुछ कहो तो।"

"असुविधा तो कुछ भी नहीं।" रत्नपाल ने विनीत स्वर में
हा—"राजन् ! मैं राजकन्या का पति बनूँ और बनूँ राज-
माता, यह तो मेरा सौभाग्य ही है। लेकिन मैं इसके योग्य
हीं हूँ। अपनी औकात मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कहाँ तो
लोलुप हम वैश्यों का कुल और कहाँ विश्वविश्रुत राजवंश ?
से डरपोक वैश्यकुल का सम्बन्ध वीरता से शोभित राज-
से जुड़े तो यह अमर्यादित ही होगा।

"राजन् ! सर्वगुणसम्पन्न राजकन्या रत्नवती किसी राजपुत्र
वामांग को शोभित करे, यही उचित है। मणि की शोभा सोने
जड़ने से ही बढ़ती है, चमकने वाले काँच में नहीं। मैं तो काँच
हूँ और राजकन्या एक मणि है।"

राजा कृष्णायन मुस्कुराया और बोला—

"मेरे सामने क्या तुम्हारी चतुराई चलेगी ? मेरा द्वीप चतुरों
द्वीप है। यहाँ की वंचकता दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। मैं वंचकों
राजा हूँ। तुम मुझसे निकलकर कहाँ जाओगे ? यह भी तो
ो कि अपनी बेटी का भला-बुरा सोचना तो मेरा काम है।
काँच हो या हीरा, इसे देखना तो मेरा काम है। कोई स्पष्ट
रण हो तो बताओ। तुम्हारी चतुराई तो चलेगी नहीं।"

मन-ही-मन डर गया रत्नपाल। सोचने लगा—'यह राजा

बलपूर्वक भी भाँवरें डाल सकता है । क्यों करूँ इन्कार ? विवाह तो करना ही है । यदि देव की ऐसी इच्छा है तो मैं कैसे टाल सकता हूं ? पर यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि विवाह के बाद मैं अपना कर्त्तव्य नहीं भूलूँगा और माता-पिता के मिलने का पूरा सुख नहीं भोगूँगा ।' ऐसा निश्चय कर रत्नपाल ने विवाह की स्वीकृति देते हुए कहा—

"राजन् ! मैंने इन्कार कब किया है ? जो सौभाग्य मुझे सहज ही मिल रहा है, उसके लिए मैं इन्कार कर भी कैसे सकता हूँ ? लेकिन अपने अवगुणों को स्पष्ट करना नीति है । विवाह तो सदा-सदा के लिए बन्धने वाला बन्धन है । इसलिए मैंने अपने अवगुण आपको बताये थे । यदि इतने पर भी आप मुझे बनाना चाहते रहे हैं तो मुझे स्वीकार है । मैं आपका ही हूँ । अब और भी निकटतर हो जाऊँगा ।"

हर्ष से उछल पड़ा राजा । तुरन्त ताली बजाई । प्रतिहारी आ गई । आदेश दिया राजा ने—

'झट जाओ । मन्त्री को लिवा लाओ और पुरोहित को भी कहना पन्चांग साथ लायें ।"

सब आ गए । रानी वसन्तमाला अपने होने वाले जामाता को झरोखे से देखने लगी । रत्नवती की सखी कचोटी काट कर उससे कह रही थी—"यहाँ क्यों खड़ी है वहाँ क्यों नहीं जाती ? विवाह से पहले एक झाँकी तो कर ले ।"

"चल हट ।" हाथ झटकते हुए रत्नवती ने कहा—"तू दूर जा । अपना काम देख ।"

सुनन्दा सखी ने मुस्कुराते हुए कहा—

"राजकन्ये ! आज बन लो, पर एक दिन तो जाना ही होगा ।"

इधर राजपुरोहित ने दोनों नामों के जन्म-ग्रहों का मिलान करके विवाह-तिथि निश्चित की । राजा ने थाल भरकर स्वर्ण-खण्ड पुरोहित को दिये । फिर तो नगर भर में बात फैल गई कि तरुण व्यापारी रत्नपाल के साथ राजकुमारी रत्नवती का विवाह होगा । इस जोड़ी को देखने के लिए नागरिकों की आँखें तरसने लगीं । पन्द्रह दिन ही विवाह के रह गये थे और जोरों की तैयारियाँ शुरू हो गईं । पहले से सजे-सजाये राजभवन और राजकीय अतिथिशालाएँ और भी सजने लगीं । नागरिक अपने-अपने घर सजाने लगे । राजपथ और वीथियाँ और भी आकर्षक बन गईं । जगह-जगह मोतियों की झालरें, सुदर्शन वन्दनवारें लगी गईं । तोरणद्वार बने । निश्चित तिथि आई । रत्नपाल का उबटन हुआ । केशर, चन्दन और हल्दी के मिश्रण से उसके गोरे तन पर सुनहरी और लाल-पीली आभा झलकने लगी । रत्नाभूषणों से सुसज्जित रत्नपाल का अंग-अंग दमकने-झलकने लगा । जब वरयात्रा निकली तो पथ और चौराहों पर स्त्री-पुरुषों की भीड़ जम गई । नागरिक वरवेशी रत्नपाल को टकटकी लगाकर देखते थे ।

फिर यथासमय वर-वधू विवाहमण्डप में बैठे । रत्नवती झीने-कौशेय अवगुंठन में थी । मंत्रोच्चारण की मधुर-पावन ध्वनि-घोष के साथ भाँवरें पड़ीं । दोनों एक हो गए । जैसे तारों के बिना वीणा अधूरी और व्यर्थ एवं जैसे जल के बिना सरिता अस्तित्वहीन होती है, वैसे ही स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के बिना

आधे-अधूरे और अपूर्ण होते हैं। आज रत्नपाल और रत्नवती पूर्ण हो गए।

यद्यपि रत्नवती को कहीं बाहर नहीं जाना था। [illegible] प्रासाद में ही पहुँचना था, और अभी तो वह विवाह [illegible] ही थी। फिर भी रानी वसन्तमाला रोने लगी। आँसू [illegible] पोंछते हुए रानी ने मन-ही-मन कहा—'आज मेरी बेटी [illegible] हो गई। बेटी तो पराई ही होती है। अब तक [illegible] अपनापन आज कहाँ चला गया? अपनी होते हुए भी [illegible] नहीं रही अब। बेटी ही क्या, संसार का समस्त [illegible] अपनत्व मिथ्या होता है।'

विवाहोत्तर सब क्रियाएँ सम्पन्न हो गईं। रत्नवती [illegible] पति-प्रासाद में पहुँची। कक्ष अच्छी तरह सजा था। [illegible] सखियों की भीड़-भाड़ रही। रत्नपाल ऊपर से प्रसन्न [illegible] भीतर से चिन्तित यहाँ बने नये मित्रों में हँस-बोल रहा [illegible] रात आई। रात तो रोज ही आती थी। पर आज [illegible] मिलनयामिनी, मधुयामिनी अथवा सुहागरजनी थी।

शय्यारूढ़ रत्नवती की पलकें झुकी थीं। झुकी पलकों [illegible] वह अपने साक्षात् मन-प्राण को देख रही थी। रत्नपाल [illegible] के निकट आया और शय्या के निकट रखे सुखासन ([illegible] कुर्सी) पर बैठ गया। नीचे उतरकर रत्नवती ने पति [illegible] छुए और खड़ी ही रही। सोचती रही रत्नवती—'[illegible] कहती थी कि वे बाहें फैलाकर आलिंगन करेंगे और [illegible] आलिंगनपाश से मुक्त होने का झूठा प्रयास करना [illegible] ये तो कुछ कहते भी नहीं। क्या मैं यों ही खड़ी रहूँगी [illegible]

खड़ी रहूँगी। जब तक शय्या-सहचर नहीं कहेंगे, तब तक मैं शय्या पर पैर भी नहीं रखूँगी।"

बत्तख के विकसित बच्चे को तैरना कौन सिखाता है? से पानी में छोड़ दो तो स्वयं ही तैरेगा। नारी को भी प्रणय-दान करना कोई नहीं सिखाता। आज पहली रात को ही रत्नवती मानसुख में डूब-सी रही थी। बिना सिखाये उसे प्रणय-दान करना आ गया। क्षणभर में ही खड़े-खड़े उसने बहुत कुछ सोच लिया और उतने ही क्षण में सुखासन पर बैठे-बैठे रत्नपाल ने भी यह सोच लिया कि मुझे अब क्या करना है? उसने दूसरे सुखासन की ओर संकेत करते हुए रत्नवती से कहा—

"बैठो राजकन्ये! तुमसे कुछ विशेष बात कहनी है।"

इतने पर भी खड़ी रही राजकुमारी तो रत्नपाल के हाथ पकड़कर बैठाया उसे। राजकुमारी का मान-सुख चिन्ता में बदल गया। उसने पुनः सोचा—'राजकन्ये कहा मुझे। तो क्या मैं इनके लिए भी राजकन्या ही रही? 'प्रिये' क्यों नहीं कहा? विशेष बात क्या कहेंगे?'

आशंका से आकुल-व्याकुल रत्नवती की विचारधारा तोड़ते हुए रत्नपाल ने कहा—

"राजकन्ये! आज की रात्रि हमारे मधुर-मिलन की रात है। यह भी है कि प्रथम मिलन ऐसा होना चाहिए कि जिसकी याद कभी भुलाई न जा सके। पर मैं अपनी एक विवशता से तुम्हें अवगत कराना चाहता हूँ। वह यह कि अपनी कुल-रीति के अनुसार जब तक हम दोनों अपने यहाँ कुलदेवता का पूजन नहीं करें, तब तक पति-पत्नी गृहस्थ-सुख प्राप्त नहीं कर

सकते। इस अटल-निश्चित रीति के सम्पन्न होने से [illegible]
पंचेन्द्रीय सुख नहीं ले सकता। तब तक हमें साथ रहो [illegible]
विलग ही रहना है।

राजकुमारी ने झुकी पलकों से कहा—

"आर्यपुत्र का वचन मेरे लिए प्रमाण है। मेरे [illegible]
कोई। उन्हें मैं देखूँगी। कहाँ होंगे वे? कैसे होंगे? [illegible]
बातों की कल्पना में मैं इतनी बड़ी हो गई तो क्या [illegible]
की प्रतीक्षा में कुछ दिन, कुछ महीने या कुछ वर्ष मैं [illegible]
काट सकती? यह प्रतीक्षा भी सुखकर होगी।"

रत्नपाल बोला—

"आर्यललना रत्नवती से मुझे ऐसी ही आशा थी। [illegible]
इतना आश्वासन भी दो कि यह रहस्य हम दोनों के [illegible]
रहेगा।"

"रहेगा। अवश्य रहेगा।" रत्नवती ने थोड़ी-सी [illegible]
ऊपर उठाईं और बोली— "लेकिन दोनों के बीच [illegible]
के बीच ही क्यों नहीं? हम क्या दो हैं? अब [illegible]
ही हैं।"

रत्नपाल बोला—

"नहीं रत्न! पति-पत्नी दो ही होते हैं और [illegible]
चाहिए। बिना द्वैत के एक-दूसरे को क्या देंगे और [illegible]
प्यार-प्रीति के आदान-प्रदान, एक-दूसरे की [illegible]
मिलन के लिए दो ही होना चाहिए। जो लोग [illegible]
अद्वैत की स्थापना करते हैं, वे मानो दाम्पत्य-सुख [illegible]
कर देते हैं।"

"तो फिर 'दो देह एक प्राण' की लोक प्रतिष्ठा क्या यों है ?" रत्नवती ने पूछा ।

रत्नपाल बोला—

"इस लोकानुभव का एक अलग महत्त्व है । अर्थात् पति-पत्नी :-दूसरे को अपने मन में ऐसा बसा लें कि कोई दूसरा न आने । । पुरुष यदि साक्षात् रंभा को भी देखे तो वह रंभा यह कर लौट जाए कि इसके हृदय में खाली जगह नहीं है । कोई री आसन जमा चुकी है और स्त्री को कामदेव भी स्त्री ही । दो देह एक प्राण का यही अर्थ समझा हूँ मैं ।"

"मैं धन्य हो गई नाथ ! जाने मैंने ऐसे क्या पुण्य किये थे, जीवनधन के रूप में आपको पाया । यदि सर्वनियता कोई र है तो सुने कि मैं जन्म-जन्म तक आपकी ही रहूँ ।"

"मूल प्रसंग पिछड़ गया रत्न !" रत्नपाल ने रत्नवती से —"मूल बात है, इस मिलन रहस्य को छिपाना । तुम तो ना चाहोगी । किसी से नहीं कहोगी । कुलदेवता के पूजन होने ाद मिलन की बात । पर क्या तुम्हारी आँखें नहीं कह । इनमें विरह का गीलापन और प्रतीक्षा की आतुरता होगी, तुम्हारी चतुर सखियाँ ताड़ जायेंगी । जब तुम्हारी सखियाँ का रहस्य पूछेंगी तो क्या कहोगी उनसे ? '

मुस्कुराई रत्नवती । बोली—

"यह बात तो सखियों को बताने की है । सखियों से निब- मैं जानती हूँ ।"

"पर मैं भी तो देखूँ कि मेरी काव्य-पंडिता प्रिया अपनी यों को कैसे बहकायेगी ? बात तो तब है, जब झूठ भी न ा पड़े और रहस्य, रहस्य ही बना रहे ।"

"तो फिर मैं अपनी कल्पना से सखियों के प्रश्नों [illegible] उत्तर बताती हूँ।" रत्नवती बोली—"इसी से आप अनुमान [illegible] लीजिए कि मैं अपनी सखियों के अकल्पित प्रश्नों का [illegible] कैसे दूँगी ?"

"बताओ।" कहकर रत्नपाल रत्नवती के मुँह की [illegible] देखने लगा। रत्नवती अपने दाहिने पैर के अँगूठे को [illegible] घुमाती हुई, पलक झुकाये कुछ सोचती रही। वार्ता[illegible] कल्पना कर चुकने के बाद उसने कहना शुरू किया।

सुनन्दा ने पूछा—

"सखी ! रात कैसी कटी ?"

"रात कैसी कटती ?" रत्नवती ने हँसते हुए कहा—" जैसे सदा कटती है, वैसे ही कटी।"

कुशा ने पूछा—

"ऐसे काम नहीं चलेगा। बात तो बतानी ही पड़ेगी। की रात तो दो की रात थी, इसलिए उसके कटने का पता तो बतानी ही पड़ेगी।"

रत्नवती ने बताया—

"बड़ी नटखट हो तुम दोनों। कैसे बताऊँ ? गूँगा [illegible] स्वाद कैसे बताये ? जो चीज कहने की नहीं, केवल [illegible] करने की है, वह बताई कैसे जा सकती है ?"

सुनन्दा ने फिर भी कहा—

"लेकिन वाणीरहित—गूँगा भी संकेत तो कर ही दे[illegible] अब बोलो, क्या कहोगी ?"

रत्नवती बोली—

"अब ज्यादा तंग मत करो। सोने दो। आँखों में नींद भरी और मेरा अंग-अंग दुख रहा है।"

कुशा और सुनन्दा खिल-खिलाकर हँस पड़ीं। कुशा बोली—

"अंग-अंग दुख रहा है। लेकिन यह दर्द मीठा तो होगा?"

सुनन्दा ने कुशा के स्वर में स्वर मिलाया—

"हमारे जीजाजी ऐसे निर्दय हैं कि हमारी सखी का कुसुम-कोमल तन यों........।"

रत्नपाल हँसा। हँसते-हँसते बोला—

"वाह प्रिये! तुमने तो कमाल ही कर दिया? कुशा और न्दा के प्रश्नों की कल्पना करके और उनका उत्तर देकर ने तो साकार दृश्य ही उपस्थित कर दिया। अब मुझे विश्वास गया कि वे जो भी अन्यथा प्रश्न पूछेंगी, तुम अपने काम का तर दोगी।"

बस फिर बातों में रात कटी। सवेरा हुआ। नित्यकर्म से वृत्त होकर रत्नपाल राजसभा में गया। रत्नवती अपनी माता प्रासाद में पहुँच गई। सखियाँ उससे मिलीं। माता भी मिली। सबने कुछ-न-कुछ तो रत्नवती से पूछा ही होगा। क्या आ उन्होंने और क्या कहा रत्नवती ने, इसे कौन जाने? पर तना तो हो ही गया कि रत्नवती-रत्नपाल के शय्या-मिलन का हस्य, रहस्य ही बना रहा और रत्नपाल अब अपने क्रय-विक्रय चिन्ता में लग गया। अपना माल बेचकर वह शीघ्र ही रेगताल जाकर अपने पिता का ऋण चुकाना चाहता था र उसके बाद उनकी खोज।

रत्नपाल का एक दैनन्दिन क्रम बन गया। उसे
के विक्रय के लिए मण्डी भी जाना पड़ता, राजसभा
बैठना पड़ता और रत्नवती के साथ झूठा दाम्पत्य-जीवन
बिताना पड़ता। अब उसे नगर के सभी नागरिक जान
राजसभा के लिए तो वह तारों के मध्य चन्द्र का
उसके विशिष्ट मधुर व्यवहार और आकर्षक व्यक्तित्व से
भी उससे प्रभावित थे। कमर में रत्नजटित मूठ वाले
को झुलाते हुए रत्नपाल घोड़े पर चढ़कर जब राजपथ से
तो राह चलते लोग खड़े हो जाते। उसके मुकुट पर पड़ती
ऐसी झिलमिलाती थीं कि आँखें झपक जाती थीं।
हिलते गोल-गोल कुण्डल तो बरबस ही कुमारी कन्याओं
हिला देते थे। अब उसके दिन कालकूटद्वीप में ही बीत

इसी क्रम में रत्नपाल की भेंट एक दिन पुनः श्रीचन्द
गई। रत्नपाल राजा-जामाता बन गया है, इसे तो श्रीचन्द
ही गया था। दूसरी बार जब दोनों मिले तो दोनों ने
जिनेन्द्र की। रत्नपाल घोड़े से उतर पड़ा और श्रीचन्द
पकड़कर एक ओर एकान्त में ले गया। रत्नपाल ने घो
से बांध दिया और दोनों पेड़ के नीचे बैठकर बातें करने लगे

---

1. जब तूफान से घिरा रत्नपाल का जहाज संयोग
कालकूटद्वीप पहुँच गया था तो उक्त द्वीप में वहाँ के
द्वारा ठगे गये एक भुक्तभोगी व्यापारी ने अपनी राम
रत्नपाल को सुनाई थी। मूलग्रन्थ प्राकृत और संस्कृत
कहानी का अन्त इन शब्दों में दिया गया है, यथा—

(क्र

श्रीचन्द ने कहा—

"बन्धु ! तुम तो यहाँ के लोगों पर हावी हो गये । अब तुम राजजामाता हो। चलो अच्छा ही है। अब उस धूर्त्तयोगी से किसी तरह मेरी रत्नमंजूषा भी दिलाओ । अब तो तुम्हारा श्वसुर मेरी सुनेगा ? अब तक मेरी किसी ने नहीं सुनी ।"

"कुमार ! तओप्पभिइ अहं जत्थ - तत्थ भमेमि, परन्तु ण कोई मह पउत्तिं सुणेइ।"

और—

"कुमार ! ततः प्रभृति अहं यत्र-तत्र भ्रमामि, परन्तु न कोऽपि मम प्रवृत्तिं शृणोत ।"

अर्थात् "कुमार ! उसके बाद से मैं यहाँ - वहाँ घूमता हूँ, परन्तु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता ।"

लेकिन हमने इस कहानी को दूसरा मोड़ देकर स्वकल्पना से अन्त तक पहुँचाया है। प्रयास यह किया है कि यह कथावृद्धि स्वाभाविक ही बनी है; अलग से जोड़ - पैवन्द मालूम नहीं पड़ता । इसके पीछे एक औचित्य भी रहा है। वह यह कि जिस वणिक् ने रत्नपाल को कालकूट के ठगों से बचने के लिए आगाह—सावधान किया था, उसके प्रति रत्नपाल का भी कुछ कर्त्तव्य अवश्य होना चाहिए, क्योंकि जब रत्नपाल राजा कृष्णा-नन का जामाता बन गया तो उसकी प्रसिद्धि द्वीपनगर में फैल ही गई होगी और इधर-उधर भटकने वाले भुक्तभोगी श्रीचन्द से उसकी भेंट भी अवश्य हुई होगी, होनी भी चाहिये। ऐसी दशा में, जबकि रत्नपाल शक्ति-सामर्थ्य वाला (जामाता होने के

(क्रमशः)

रत्नपाल ने कहा—

"देखो मित्र ! महीने यों ही बीत गये। पहले तुम मुझे सागर-तट पर मिले थे और फिर जाने कहाँ चले गये ? जल्दी में मैं भी तुम्हारा ठौर-ठिकाना नहीं पूछ पाया था। अब तुम मिले हो तो मैं भी चुप नहीं बैठूँगा। तुम्हारे साथ न्याय ही होगा। क्योंकि यह न्याय मेरे श्वसुर राजा कृष्णायन द्वारा नहीं होगा। लेकिन फिर वही प्रमाण का प्रश्न सामने आयेगा। न्याय-निर्णय को जो शाश्वत प्रमाण-परम्परा चली आ रही है, उसे तो मिटाया नहीं

कारण) हो गया तो अपने हितचिन्तक का कष्ट दूर करने का प्रयास उसे अवश्य करना चाहिए। इस प्रयास में यह भी दिखाना उचित है कि रत्नपाल नहले पर दहला मारकर ही ठग योगी के चंगुल से श्रीचन्द के रत्न निकाले।

यदि हम यह कथावृद्धि न करते तो असंगत होता। हमें आशा है कि पाठकों को हमारा यह वृद्धि-प्रयास 'संगत' और 'स्वाभाविक' लगेगा। इसमें विशेषता यह भी रही है कि मूल प्राकृत कथानक ज्यों-का-त्यों बना रहा है, जैसे किसी कमीज के चार बटनों में से एक टूटे-हटे बटन के स्थान पर एक और बटन टाँक देने से कमीज ज्यों-की-त्यों बनी रहती है और बटनों की भी पूर्णता हो जाती है। इसी तरह यहाँ भी मूल कहानी ज्यों-की-त्यों रही है और हमारे इस अंश ने पूरक का काम किया है। इसके अतिरिक्त इतना और कि सुविधा के कारण हमने उस व्यापारी का कल्पित नाम श्रीचन्द रखा है, क्योंकि मूल में कोई नाम नहीं था। कथा में आये अन्य सभी नाम तो ग्रन्थानुसार ऐतिहासिक ही हैं।

जा सकता। राजा पूछेंगे तुमसे कि क्या तुमने कानेयोगी के पास अपनी धरोहर रखी थी। तुम कहोगे, इसने अपनी पहचान मिटाने के लिए ही अपनी एक आँख बाद में फोड़ ली है।

"श्रीचन्द ! बुरे-कुटिल व्यक्ति भी जब सुवेश धारण करते हैं, तो तब तक पूजे जाते हैं, जब तक कि उनकी पोल नहीं खुलती। योगी वेश में होने के कारण तुम्हारे रत्नहर्त्ता योगी की बात ही सही मानी जायगी। लोक का ढर्रा ही ऐसा है। और फिर यह काम तो प्रवंचकों का ही है। राजा भी ठग-शिरोमणि है, अतः यहां के न्यायकर्त्ता अत्र भी योगी का ही पक्ष लेंगे। अत. मैंने सोचा है कि काँटे से ही काँटा निकाला जाये। मैं ऐसी युक्ति सोचूँगा कि योगी अपने ही जाल में फँसे और तुम्हारे रत्न देने के बाद सोचे कि मुझे भी कोई गुरु मिल गया।"

"ठीक है बन्धु !" श्रीचन्द ने गद्गद् होकर कहा— "मुझे विश्वास है कि तुम निश्चय-ही सफल होगे। खैर, यह तो करोगे ही। अब यह बताओ कि राजा कृष्णायन के फन्दे से तुम कैसे बच गये। उस ठग - शिरोमणि जामाता तुम कैसे बने ?"

"यह सब तुम्हारी ही कृपा का फल है।" रत्नपाल ने अपने भाग्योदय का श्रेय श्रीचन्द को देते हुए उससे कहा— "यहाँ की रीति-नीति बताने के बाद जब तुम चले गये तो मैं यहाँ के लोगों से सावधान हो गया और निश्चय किया कि यहाँ फूँक-फूँककर कदम रखना है। बस, तभी दो राजसेवक मुझसे राजा के रोग - निवारणार्थ धातकी - दाड़िम के फूल लेने आये। मैं तो शंकित था ही, सो साफ कह दिया कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए मन्त्री को भेजो। बहुत कुछ तो तुमने सुन ही लिया होगा। फिर भी मैं पूरी बात बताता हूँ।"

इस तरह रत्नपाल ने अपने भाग्योदय की कथा आद्योपान्त श्रीचन्द को सुना डाली। सब कुछ सुनने के बाद श्रीचन्द ने कहा—

"कुमार ! अच्छे लोग अपनी सफलताओं का श्रेय भी दूसरों को ही देते हैं। यही तो तुम कर रहे हो। इस सबके मूल में तुम्हारे कृतपुण्य ही हैं।....तो अब मैं चलूँ ?"

"हाँ जाओ बन्धु ! मैं तनिक मण्डी जा रहा हूँ। तुम्हारे ठौर-ठिकाने पर आकर मिलूँगा और योगी को पाठ पढ़ाने की योजना लेकर आऊँगा।"

श्रीचन्द को विदाकर रत्नपाल मण्डी गया और फिर न जाने क्या सोचकर काममंजरी नामक प्रसिद्ध वेश्या के कोठे पर जा गया। सन्ध्या का सुरमई अन्धेरा था, इसलिए कोई रत्नपाल को पहचान नहीं सका। यदि कोई पहचानता तो गजब हो जाता। क्योंकि कहावत के अनुसार 'बद अच्छा बदनाम बुरा'। जब काम-मन्जरी ने अपने आवास पर राज - जामाता रत्नपाल को देखा तो अपने भाग्य को सराहा। शिष्टाचार का निर्वाह करते हुए उसने रत्नपाल से कहा—

"बैठो कुमार ! क्या सेवा करूँ ?"

"सेवा बताने तो आया ही हूँ।" रत्नपाल ने बैठते हुए कहा—"सेवा क्या, एक सहयोग चाहिए। दोगी ?"

वेश्या बोली—

"मैं किस योग्य हूँ ? फिर भी जिस लायक हूँ, आपके आदेश का पालन करूँगी।"

रत्नपाल बोला—

"मुझे तुम्हारे चातुर्य का सहयोग चाहिए। एक धूर्त योगी

को पाठ पढ़ाना है। इस काम में धन की आवश्यकता पड़ेगी, वह सब मैं तुम्हें दूँगा और यह काम कैसे करना है, यह मैं तुम्हें बताता हूँ।"

बस फिर रत्नपाल ने वेश्या काममंजरी को सब बातें समझा दीं और फिर रात के अँधेरे में श्रीचन्द के पास पहुँचा। उससे कहा—

"बन्धु ! काम हो जायगा। सवेरे तुमको योगी के मठ के पास छिप जाना है। वहाँ काममंजरी वेश्या आयेगी। तुम्हें ठीक उस समय पहुँचना है, जिसके लिए मैं बताने जा रहा हूँ।"

रत्नपाल ने श्रीचन्द को पूरी योजना समझा दी और चलने के लिए उठते हुए कहा—

"याद रखना। ऐन वक्त पर पहुँच जाना है।"

इसके बाद रत्नपाल अपने प्रासाद में पहुँचा और दहेज में मिले पर्याप्त रत्न निकालकर रात में ही काममंजरी वेश्या के यहाँ पहुँचा दिये। फिर पूरी तरह निश्चित होकर अपने शयनकक्ष में गया और रत्नवती से बातें करते हुए सोया।

सवेरा हुआ। दो दासियों को साथ लेकर काममंजरी वेश्या उसी योगी के मठ में पहुँची, जिसने श्रीचन्द के रत्नों की पेटी धरोहर रखी थी और फिर लौटाने से साफ मुकर गया था। काममंजरी साथ जो दो दासियाँ थीं, उनके हाथों में रत्नों से भरे थाल थे। वे रत्न कौशेयवस्त्र से ढँके थे।

काममंजरी ने योगी को प्रणाम किया और फिर दासियों को संकेत दिया तो उन्होंने रत्नों से भरे दोनों थाल वेश्या के सामने ही रखे। फिर वेश्या ने योगी से उदास स्वर में कहा—

"योगिराज ! आज मैं बड़े संकट में पड़ गई हूँ। मेरी छोटी बहिन अत्यधिक बीमार है। बचने की आशा नहीं है। दूसरे दूर भी बहुत है। मुझसे सौ योजन दूर रहती है। मैंने कल एक आदमी उसका समाचार लेने भेजा था। सो अब उसके लौटने की अवधि भी बीत गई है। अतः अब मैं ही अपनी बहन को देखने जा रही हूँ।

"योगिराज ! मुझे यहाँ के किसी व्यक्ति पर भरोसा नहीं है। राजा तक पर नहीं है। लेकिन आप तो संसार-त्यागी योगी हैं। अतः मेरे इन रत्नों को धरोहर के रूप में रख लीजिए। यदि लौट आई तो वापस कर दीजिए और यदि बहन मर गई होगी तो लौटूँगी ही नहीं। तब आप इनका सदुपयोग कर लीजिए।"

रत्नों की चमक देखते ही योगी के मुँह में पानी भर आया। अपने लोभ पर असफल परदा डालते हुए बोला—

"सुन्दरी ! मैं तो माया को छूता ही नहीं हूँ। लेकिन तुम्हारी बहिन रोगशय्या पर है सो तुम्हारी सहायता अवश्य करूँगा। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी बहिन अवश्य ही ठीक होगी और तुम यहाँ सकुशल वापस आ जाओगी। तुम्हें अपने ये दोनों थाल ज्यों के त्यों रत्नपूर्ण मिलेंगे।"

"मेरे मन का बोझ दूर हो गया। आपकी इस कृपा के लिए मैं आभारी रहूँगी।"

छिपा-छिपा श्रीचन्द सब कुछ देख-सुन रहा था। वह एक दम योगी के पास आया और बोला—

"योगिराज ! मैं अपना काम करके वापस आ गया हूँ। [illegible]।"

योगी चक्कर में फँस गया। सोचने लगा—'यह ऐसे वक्त पर कहाँ से आ मरा? यदि अब इसकी धरोहर नहीं देता हूँ तो यह वेश्या अविश्वास करेगी। मैं कहूँगा, मेरे पास तुम्हारी पेटी कहाँ से आई? मैंने कब तुम्हारी धरोहर रखी थी और यह हठ करके कहेगा कि रखी थी। तुम्हारे पास ही रखी थी। तब तो यह वेश्या मुझ पर सन्देह करेगी और किसी मूल्य पर करोड़ों के रत्न मेरे पास धरोहर नहीं रखेगी। अतः इसके रत्न दे देना ही ठीक है।'

इतनी देर सोचने में बिताने के बाद योगी ने नाटकीय ढंग से श्रीचन्द से कहा—

"अरे, मैं तो बहुत देर में याद कर पाया तुम्हें। तुम तो बहुत दिनों में आये। भई, ऐसा मत किया करो। लोग धरोहर रख तो जाते हैं, पर फिर लेने का नाम नहीं लेते। देखो तुम्हारी मंजूषा, उस कोने में रखी है। उठा लो भाई और अपने रत्न सम्हाल लेना।"

श्रीचन्द ने तुरन्त अपनी मंजूषा उठाई और मन-ही-मन रत्न-पाल की बुद्धिमत्ता तथा काममंजरी के चातुर्यपूर्ण अभिनय को धन्यवाद दिया। इतने में वेश्या का एक सेवक आया और वेश्या काममंजरी से बोला—

"स्वामिनी! बड़े हर्ष का समाचार है कि आपकी बहन बिल्कुल ठीक है। मिठाई बांटो। उनकी देखभाल करता रहा, इसलिए अवधि बीत जाने के बाद आया हूँ।"

"अरे सच! मेरी बहिन ठीक हो गई।" बड़े हर्ष के साथ काममंजरी ने कहा—"तो मैं वहाँ नहीं जाऊँगी। दासियो! रत्न से भरे ये थाल उठा लो। मैं बड़े पाप से बच गई। व्यर्थ ही योगी-

जी को रत्नों का स्पर्श कराने का पाप लगता मुझे। अच्छा योगी जी ! मैं अब चलती हूँ। अब आपको कष्ट देने की क्या जरूरत है !"

खड़ा-खड़ा श्रीचन्द योगी के क्षोभयुक्त म्लानमुख को देखकर मुस्कुरा रहा था। चलते-चलते उसने व्यंग्य किया—

"यदि आप ये रत्न रख भी लेते तो दूसरी आँख भी फोड़नी पड़ती। अच्छा ही हुआ, जो अंधे होने से बच गए।"

झल्लाकर योगी ने कहा—

"भाग जाओ दुष्टो ! भागो यहाँ से।"

"चिल्लाने से भी रत्न तो अब मिलेंगे नहीं।" यह कहते हुए श्रीचन्द चलता बना। मुस्कुराते हुए वेश्या काममंजरी भी चली गई। बीच में ही रत्नपाल मिला। इन सभी के मुस्कुराते चेहरे देखकर ही रत्नपाल समझ गया था कि योजना सफल रही। फिर भी उसने पूछा तो काममंजरी ने हँस-हँसकर सब बातें बताईं। फिर काममंजरी ने रत्नपाल से कहा—

"कुमार ! ये रत्न आपकी धरोहर हैं। योगी को लुभाने के लिए रात आप दे आये थे। अब आप इन्हें सम्हालें।"

"ठीक है धरोहर तो दहकती आग होती है। तुम लौटा रही हो, यह ठीक ही कर रही हो। पहले मैं इसे लेता हूँ, फिर अभी तुम्हारे सामने इनका उपयोग भी करता हूँ।"

यह कह रत्नपाल ने दोनों थाल ले लिये। फिर एक थाल श्रीचन्द की ओर बढ़ाते हुए कहा—

"श्रीचन्द ! बार-बार बन्धु कहा है तुमने मुझे। अतः इन्कार मत करना। इस एक थाल के रत्न तुम्हें रखने ही पड़ेंगे। तुम्हें मठ को पक्का बनवाने के चक्कर में योगी ने दो-चार रत्न भी

वं किये ही होंगे । वैसे भी तुम्हें घाटा रहा। क्योंकि व्यापार रने आये थे और यहाँ भटकते रहे । इन रत्नों से तुम्हारी चित् क्षतिपूर्ति तो अवश्य हो जायगी।"

"किंचित् ? कैसी बातें करते हैं आप ? श्रीचन्द ने रत्नपाल कहा—"इतना क्या मैं उपार्जन कर पाता ? अब तो यों हूँगा कि जली तो जली,, पर सिकी भी खूब। मेरा कालकूट प आना असफल होकर भी कुछ अधिक सफल हो गया।"

श्रीचन्द ने रत्न रख लिये। अब रत्नपाल ने वेश्या काम-जरी से कहा—

"यह आपका पुरस्कार है। इस दूसरे थाल के रत्नों को प रखें। आपका चातुर्यपूर्ण सहयोग सराहनीय और पुरस्कार योग्य है।"

वेश्या ने भी रत्न रख लिये। रथ में बैठते-बैठते वेश्या ने नपाल से छेड़छाड़ की विनोदपूर्ण भाषा में कहा—

"असली और सजीव रत्न तो यहाँ की राजकुमारी को मिला । नाम से भी रत्न और गुण से भी रत्न।"

रत्नपाल ने नहले पर दहला मारा—

"गलत कह गई। यों कहो, रत्न को रत्न मिला है।"

फिर कुछ नहीं बोली वेश्या। उसका रथ उसके आवास ी ओर बढ़ गया। रत्नपाल ने अपना घोड़ा पुनः प्रासाद की ोर मोड़ा और श्रीचन्द अपने प्रवास भवन की ओर चल दिया। चलते-चलते रत्नपाल ने इतना और कहा—

"श्रीचन्द ! मिलते रहना जब तक यहाँ हूँ तब तक तो सब ंभव सहयोग करूँगा वैसे अब शीघ्र ही यहाँ का काम समाप्त रके मैं जाने ही वाला हूं।"

"मैं भी अब यहाँ क्यों रहूंगा ? आपसे पहले ही [illegible] प्रस्थान कर जाऊँगा और जाने से पहले मिलकर जाऊँगा।"

"अच्छा तो चलें।"

दोनों अपने-अपने गन्तव्य की ओर मुड़ गए। [illegible] से पुनः वस्त्र परिवर्तन करके रत्नपाल राजसभा में पहुँचा। [illegible] तो उसे अब सभा विसर्जन तक बैठना ही था, क्योंकि [illegible] में और विभिन्न समस्याओं में परामर्श करने के लिए [illegible] अपरिहार्य आवश्यकता राजा कृष्णायन को पड़ती थी। [illegible] रत्नपाल का वैभवपूर्ण जीवन कालकूटद्वीप की राजधानी [illegible] बीत रहा था, पर भीतर-ही-भीतर कर्त्तव्य की घण्टी बजती [illegible] थी, जो उसे याद दिलाती रहती।

× × ×

यथासमय रत्नपाल का सब माल बिक गया। [illegible] लाभ हुआ उसको। अब उसे द्वीपनगर में रहने की क्या [illegible] कता थी। अब तो वह सोच रहा था कि यदि मेरे पंख होते [illegible] अभी उड़कर पुरिमतालनगर पहुँच जाता और गन्मन का ऋण चुकाता। फिर अपने जनक-जननी की ढूँढ़-खोज करता। [illegible] के विवाह का फन्दा पड़ गया। इसे तोड़ भी नहीं सकता और [illegible] रहते अपना काम भी निर्विघ्नता से नहीं कर सकता। [illegible] छोड़ जाना होगा।

पक्का निश्चय करके रत्नपाल अपने श्वसुर राजा [illegible] के पास पहुँचा और स्पष्ट कहा—

"तात ! मुझे स्वदेश जाने की अनुमति दीजिए। [illegible] जल्दी न पहुँचा तो मेरा बना-बनाया काम बिगड़ जायगा।"

राजा कृष्णायन को तो जैसे आशा ही नहीं थी कि रत्न ाल जाने की बात भी कभी कहेगा । जब उसने यह अनचाही ात सुनी तो कुछ चकराकर बोला—

"जाओगे ? लेकिन क्यों ? यहां क्या कष्ट है तुम्हें ? अच्छा, ाना ही चाहो तो अवश्य जाओ, पर इतनी जल्दी क्यों ? यहां हते तुम्हें दिन ही कितने हुए हैं ? चले जाना, पर अभी जान ा नाम मत लो।"

रत्नपाल ने पुन. आग्रह किया—

"तात ! इतने दिन भी मैं विवश होकर रहा । क्योंकि जब क कर्त्तव्य का भार नहीं उतर जाता, तब तक कुछ भी नहीं हाता। यहां के सुख मेरे तन को ही सुख दे सके। मेरा मन हां था ही कब ? अब में अपने मन के साथ तन को भी स्वदेश जाना चाहता हूं। जिस काम को करने का मैंने प्रण किया उसे पूरा करके मैं पुनः यहां आ जाऊंगा और तभी रत्नवती को ले जाऊंगा। तब तक वह आपकी छत्रछाया में ही रहेगी ।"

"क्या कहा ? रत्नवती को छोड़कर जाओगे तुम ?" बड़े ाश्चर्य से पूछा राजा कृष्णायन ने— "तो तुम अकेले जाना ाहते हो ? लेकिन यह तो सम्भव नहीं होगा। बेटी की विदा रते हुए माता-पिता का हृदय भर - भर आता है । पर हर माता ार हर पिता अपनी बेटी को उसकी ससुराल भेजकर ही ान्न होते हैं। उनके आंसू हर्ष के आंसू होते हैं। तुम्हारा कर्त्तव्य है, मेरा कुछ नहीं। विवाह के बाद भी मैं अपनी बेटी ो अपने पास रखूं ? वह भी कैसे रह पायेगी ?

"वत्स रत्न ! माली के बिना फुलवाड़ी रहती बिना खेती कभी हो सकती है ? तुम्हीं कहो,

छाया कब नहीं रहती ? घन और विद्युत कभी अलग होते देखे हैं तुमने ? वाह ! यह तुमने खूब कही कि अकेले जाओगे । रत्नवती रत्नपाल के बिना उसी तरह नहीं रहेगी, जैसे चन्द्र के बिना चन्द्रिका नहीं रहती ।

"वत्स रत्न ! मैं तो तुम्हारे जाने से ही परेशान हो उठा था। अब इस अकेले जाने की बात से तो मैं पागल हो जाऊँगा । क्या ही कहा है किसी ने कि परदेशी की प्रीति अस्थिर होती है । यहाँ से जाने के बाद जाने तुम कब आओ ? नहीं भी आओ तो क्या आश्चर्य है ? तुम्हें रोकने के लिए बाधाओं की कमी ही क्या है क्या ? यदि बीच में सागर न होता तो चाहे जब जाते और चाहे जब आते । छह महीने तो एक ओर जाने में लगते हैं । तो क्या मेरी बेटी अनिश्चित काल तक तुम्हारी प्रतीक्षा करेगी ? नहीं वत्स ! ऐसा मत करो । बदल दो अपना निश्चय ।"

रत्नपाल बोला—

"तात ! आप ही बताइए, क्या विवशता नाम की कोई चीज नहीं होती ? क्या विवशता के सामने कोई भी कोई औचित्य और मर्यादा तक भंग नहीं हो जाती ? क्या रत्नवती मेरी नहीं ? क्या मैं उसे छोड़ना चाहता हूँ ? कर्त्तव्य धर्म बड़ा कठोर होता है । कर्त्तव्य के पीछे मनुष्य क्या - क्या नहीं झेलता ? दशरथ ने तो पुत्रवियोग तक सहा था । रत्नवती मेरी अर्द्धांगिनी है, तो मेरे साथ उसे भी पति - वियोग का कष्ट सहना है । मैं भी तो कठोर कर्त्तव्य के कारण सहूँगा । यदि मेरी विवशता न होती तो मैं अभी जाने का नाम भी न लेता और जाता भी तो रत्नवती को उसी तरह नहीं छोड़ता, जैसे ... में जुते बैल गाड़ी को छोड़ कर नहीं जा सकते ।

"तात ! विवेकपूर्ण और सोच-समझकर किया गया निश्चय
भी नहीं बदलता। मेरा भी नहीं बदलेगा। धृष्टता के लिए
मा करें। मैं जाऊँगा अवश्य और अकेला ही जाऊँगा।"

"ओह ऐसे कठोर हो तुम ? तो फिर जो रुचे सो करो।
भी तुम्हें कैसे रोक पाऊँगा ? जोर देकर मैंने तुम्हें अपनी बेटी
, पर जोर देकर मैं उसे तुम्हारे साथ नहीं भेज सकता।
त्नवती ही क्यों, मैं भी तो तुम्हारा वियोग सहूँगा। तुम्हारी सास
रो-रोकर सहेगी। जाओ तैयारी करो तुम। मैं भी व्यवस्था
रता हूँ।"

रत्नपाल उठ गया और तैयारी करने लग गया। काल-
टद्वीप में सस्ती मिलने वाली वे सब वस्तुएँ रत्नपाल ने खरीदीं
पुरिमताल में दुर्लभ थीं, और जिन्हें वहाँ बेचकर खूब लाभ
माया जा सकता था। पुरिमताल से आया माल तो बिक ही
पा था। यहीं खरीदी गई वस्तुओं से जहाज भरने में लग गए
नपाल के सेवक-साथी।

इस जब रानी वसन्तमाला ने सुना तो रो पड़ी। बेटी
नवती को अंक में भर कर रोई रानी। रोते-रोते बोली—

"बेटी ! माँ बेटी की विदा के समय रोती है और मैं इस-
ए रो रही हूँ कि तुझे विदा नहीं कर पा रही। विधाता
ना कठोर क्यों है कि उसने नारी को परवशता की प्रतिमा
ना दिया।"

इतने में राजा भी आ गए। रानी बोली—

"मेरे पास भेजो जामाता को। मैं उसे समझाऊँगी। मानेगा
से नहीं ?"

"सब व्यर्थ होगा रानी" राजा ने कहा—"वह नहीं [illegible] मैंने सब तरह से कहकर देख लिया।"

इतना कह राजा चले गए और सेवकों को आदेश [illegible] रत्नपाल के साथ जाने वाले जहाज तैयार करो। [illegible] सामान अपने जहाजों में भरना। रत्न, मणि-माणिक [illegible] सबके जहाज तैयार करना। दो जहाजों में पर्याप्त सुरक्षा [illegible] रख देना। क्योंकि समुद्र-यात्रा में तूफान से अधिक [illegible] दस्युओं का होता है। कई जहाज हो जायेंगे। सुरक्षा [illegible] कड़ा करना है। जो भी पूछना हो मंत्री से पूछना। मैंने [illegible] सब समझा दिया है।"

सेवक व्यवस्था में लग गए और राजा अपना मन [illegible] के लिए एकान्त कक्ष में चला गया। बस, दो प्रतिहारियाँ [illegible] द्वार पर थीं। राजा अकेला बैठा था। अब वह प्रायः [illegible] ही रहता था। इसी बीच एक दिन जब वह अकेला ही था, [illegible] तेजस्वी योगी आये। राजा ने सम्मान-सहित योगीजी को [illegible] लिया। उसे उदास देख योगीजी ने पूछा—

"राजन्! यह संसार तो दुःखों का घर है ही। [illegible] तुम्हारा दुःख मुझे चकित कर रहा है—यदि कुछ [illegible] तो अपना दुःख कहो। शायद मैं कुछ कर सकूँ।"

"आप?" राजा ने बुझे मन से कहा—"योगीजी! [illegible] भी कुछ नहीं कर सकेंगे। बात ही ऐसी है। कोई [illegible] सकता है? मेरे सभी अभाव दूर करने में आप समर्थ हैं। [illegible] कोई न माने तो आप उसे कैसे मनवायेंगे?"

"राजन्! पूरी बात बताये बिना तो मैं कुछ [illegible] यदि बात बताने लायक न हो तो भले ही मत बताओ। [illegible]

। सकते हो तो बता दो मुझे । दूर न भी कर सकूँगा तो भी । बिगड़ेगा ?"

राजा बोला—

"स्वामिन् ! आपसे छिपाने लायक तो कुछ भी नहीं । आप ', मैं आद्योपान्त बताता हूँ ।"

राजा ने सब कुछ योगी को बताया । फिर बोला—

"अब आप रत्नपाल को कैसे राजी करेंगे ?"

योगी बोले—

"राजन् ! यदि मैं आपकी इस तनिक-सी चिन्ता को भी दूर ीं कर सका तो मैं व्यर्थ ही योगी हुआ । फिर तो हिमालय की दराओं में वर्षों तक किया गया मेरा तप व्यर्थ ही गया ।

"राजन् ! तप द्वारा क्या सम्भव नहीं है । हमारी वैदिक म्परा के अनुसार तप-बल से ही ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं । तपबल ही विष्णु पालन करते हैं और महेश संहार करते हैं । कहाँ तक , तपबल से ही शेष महिभार कन्दुक की तरह अपने शीश पर ते हैं ।

"राजन् ! जड़ी-बूटियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है । कोई वास भले ही न करे, पर अलौकिक चमत्कार भी होते ही हैं । ।भी आपको अपनी दिव्य जड़ियों का चमत्कार दिखाता हूँ ।"

राजा बड़ी उत्सुकता, आशा और विस्मय से योगी के तप- से दमकते ललाट को देख रहा था । योगी ने तुरन्त अपनी ी से दो जड़ी निकालीं । एक श्याम रंग की थी और दूसरी रंग की थी । दोनों जड़ी राजा को दिखाते हुए योगी ने —

"राजन् ! इस सफेद जड़ी के सूँघने से स्त्री पुरुष बन जाती है। आवाज तक बदल जाती है और पुनः इस श्याम जड़ी के सूँघने से पुरुष बनी स्त्री पुनः स्त्री बन जाती है। रत्नवती पुरुष बनकर जा सकती है। जब सैंकड़ों दास, सैनिक रत्नदास के साथ जा रहे हैं तो क्या रत्नवती पुरुष बनकर रत्नदास के साथ नहीं जा सकती ? उसे योगी-बाना पहनाकर भेजना।"

"अरे, यह तो कमाल की बात होगी।" यह कहते हुए राजा ने दोनों जड़ियाँ योगी के हाथ से ले लीं। मानो भाग्य से वह योगी इसी काम के लिए आया था, सो उसी समय चल दिया। राजा ने बहुत रोका, पर वह नहीं रुका। फिर राजा ने रत्नवती को बुलाया। रानी को भी बुलाया दोनों जड़ी रत्नवती को देकर उनका गुण प्रभाव समझा दिया। रत्नवती ने श्वेत जड़ी सूँघी तो सच ही पुरुषरूप हो गई। फिर तो वेश भी धारण कर अब रत्नवती राउल परम्परा का राउल योगी बन गई। इस राउल योगी को देखकर राजा भी मुस्कुराया। रानी की आँखें भर आईं और बोली—

"बालयोगी ! मैं तो तुझे बेटी ही कहूँगी। अब तुझे ... करके रोऊँगी। क्यों न रोऊँ ? मैंने तुझे बड़े सुखों में पाला अब यहाँ का सब कुछ तुझ से छूट रहा है। आज ही तो मैं ... हूँ कि बेटी पराया धन होती है।

"बेटी ! तू स्वयं बहुत समझदार तथा ... फिर भी तुझे समझाती हूँ कि सास-श्वसुर को माता-पिता समझना। तेरी सास मेरा ही प्रतिरूप है और श्वसुर ... हैं। बेटी ! कुलवधू का गुण सहन करना होना चाहिए। कभी यह मत सोचना कि मैं राजा की बेटी हूँ। ...

राज का रहन-सहन हो, उसी के अनुरूप ढल जाना। दास-दासियों के होते हुए भी पति और सास-श्वसुर की सेवा तू ही अपने हाथों से करना। मैं रानी होते हुए भी तेरे पिता को भोजन परोसकर खिलाती हूँ। जा बेटी! अब तुझसे मिलना नहीं होगा, क्योंकि तू तो अब पुरुष रूप में रत्नपाल के साथ अभी से रहेगी।"

राजा ने रानी को समझाया—

"प्रिये! अब मैं रत्नपाल को बुलाकर इसे सौंपता हूँ। उसके सामने मत रो देना नहीं तो भेद खुल जायगा।

रानी ने आँसू पोंछते हुए कहा—

"पुरुष ऐसे ही होते हैं।" रोते-रोते हँस पड़ी रानी और बोली—

"जब मैं अपने माता-पिता को छोड़कर आई थी, तब भी तुम मुझे उनकी याद करके नहीं रोने देते थे। कैसा है यह पुरुष जो नारी को रुलाता भी है और रोने भी नहीं देता?"

राजा भी मुस्कुरा पड़ा और रत्नपाल को बुलाने सेवक भेज दिया। आया रत्नपाल। राउल योगी रूप रत्नवती को देखा तो चकित रह गया। कंधे से घुटने तक गेरुए रंग का रेशमी कंथा पहने थी रत्नवती। सिर पर आडम्बरहीन राहुल परम्परा की टोपी थी। कंधे पर झोली लटकी थी और एक हाथ में केवल सात स्वरों से ही चराचर को वंश में करने वाली वीणा थी। राजा ने राउल योगी का परिचय दिया रत्नपाल को—

"वत्स रत्न! यह बाल राउल योगी रत्नवती का बालसखा है। हम भी इन्हें अपनी पुत्री की तरह ही प्यार करते हैं। रत्नवती को तुम साथ नहीं ले जा रहे तो मत ले जाओ, पर उसके बाल-सखा इस बालयोगी को अवश्य ले [illegible]। इनके

साथ रहने से तुम्हें रत्नवती को ले जाने की याद [illegible] जब भी तुम अपना कर्त्तव्य पूरा कर लोगे तो ये तुम्हें [illegible] को विदा कराने के कर्त्तव्य को याद दिला देंगे।"

रत्नपाल बोला—

"इसमें क्या परेशानी है मुझे ? मैं इन्हें अपने साथ [illegible] ले जाऊँगा। इनके रहने से मेरा मन भी लगा रहेगा। [illegible] मन से मैं इन्हें अपने साथ ले जाऊँगा।"

यों राजा को आश्वासन देने के बाद रत्नपाल ने राजा [illegible] योगी रूप रत्नवती से कहा—

"आप धन्य हैं भदन्त। आपका ऐसा सुकुमार रूप और [illegible] वय। इस वय में ही आपने योग साध लिया ?

"भदन्त ! यदि अकथनीय न हो तो बतायें कि इस [illegible] उम्र में आपको वैराग्य कैसे हो गया ? धन्य है आपका [illegible] आपके माता-पिता, जिनके आप पुत्र हुए।"

बुद्धिमती रत्नवती ने रत्नपाल से कहा—

"भद्र ! वैराग्य की प्रेरणा तो पग-पग पर है, [illegible] देखो तो जगत के हर क्रिया-कलाप, यहाँ की हर [illegible] वैराग्य ही वैराग्य है। यहाँ का कुछ भी तो सत्य नहीं। [illegible] की परिधि में मनुष्य तेली के बैल की तरह चक्कर काटता [illegible] है पर क्या है मेरा ? यह शरीर तक तो मेरा नहीं।

"भद्र ! जिन्हें यह निश्चय है कि वे मरेंगे नहीं। [illegible] सोचते हैं कि मृत्यु आयेगी तो मैं भाग जाऊँगा और [illegible] सोचते हैं कि मृत्यु से मेरी मित्रता है, ऐसे लोग ही [illegible] को 'फिर-फिर' कहकर टालते रहते हैं और जब मृत्यु आ [illegible]

तो दूब की नोंक पर टिकी ओस की बूँद की तरह अपना अस्तित्व समाप्त कर देते हैं।

"भद्र ! मैंने आँखें खोलकर संसार को देखा तो वैराग्य हो गया मुझे और योगी बन गया। 'धर्म ही सार' है इस छोटे - से वाक्य में मेरा अटल विश्वास है।"

"धन्य हैं आप ?" विभोर होकर रत्नपाल ने कहा—"आपके संग-साथ से मेरे भी कलुष धुल जायेंगे। अब चलें मेरे साथ। तैयारियाँ पूरी हो चुकी हैं।"

राउल योगी रत्नपाल के साथ जाने को उठा तो मोहवश रानी वसन्तसेना अपने आँसू नहीं रोक पाई और रो पड़ी। पर तुरन्त ही भेद छिपाने के विचार से बोली—

"जामाता ! यह बालयोगी मुझे अपनी बेटी की ही तरह मान्य और प्रिय है। इसका वियोग भी मुझे सालता रहेगा। आप भी इसे रत्नवती ही समझना। इसे कोई कष्ट न होने पाये।"

रत्नपाल ने आश्वासन दिया —

"आप चिन्ता न करें। अपने प्राणों की तरह रखूँगा इन्हें। इन्हें कैसा भी कष्ट नहीं होने दूँगा।"

सब उठ खड़े हुए। विदा की शेष तैयारियाँ भी हुईं। सब औपचारिकताएँ निभाई गईं। पूरा राज समाज-सागर तट तक आया। जो जहाज रत्नपाल पुरिमताल से लाया था, उसमें कालकूटद्वीप से खरीदी गई सामग्री थी। शेष जहाजों में दहेज की सम्पत्ति थी। सुरक्षा सैनिक थे। एक जहाज रत्नपाल और राउल योगी के बैठने के लिए सजाया गया था। उसी में दोनों बैठे। लंगर उठे। जयजिनेन्द्र के घोष के साथ जहाजों ने गहरे पानी में सरकना शुरू किया। तट पर खड़े माता-पिता को रत्नवती राउल योगी के रूप

में देख रही थी और वे हाथ हिला-हिलाकर सब के [illegible] को हिला रहे थे।

बेटी भी माता-पिता को छोड़कर बिना रोये कैसे रह सकती है? रत्नवती भी रोई। पर उसे अपना रोना छिपाना था और छिपाना उसके वश में नहीं था। तब चतुर [illegible] ने वीणा के तार छेड़ दिये और भक्तिरस के भजन गाने लगे। रत्नपाल ने समझा कि बालयोगी बहुत भावुक हैं। भक्तिरस में डूबकर रो रहे हैं। इनके भव्य वदन पर शान्तरस की कैसी अनूठी शोभा है।

मार्ग में विभिन्न प्रसंगों पर रत्नपाल और राउत दोनों में बातें होतीं। जहाज चल रहे थे। कालकूटद्वीप पीछे छूट रहा था और पुरिमतालनगर की दूरी कम हो रही थी।

7

धन की माया बड़ी विचित्र है। मित्र, सुहृद, परिवारी और सम्बन्धी कहे जाने वाले लोग धन न होने से उसी तरह साथ छोड़ जाते हैं, जैसे तालाब का जल सूख जाने पर बगुले आदि जलपक्षी अन्यत्र उड़ जाते हैं और जब धन आता है तो सब ऐसे खिंचते हैं, जैसे गुड़ पर मक्खियाँ आ बैठती हैं, तब तो पराये भी अपने बनते हैं। और तो और, धन के प्रभाव से नाम तक बनते-बिगड़ते हैं। धन न रहने पर जिनदत्त जिन्नो, भानुमती भानो और किरणकुमारी किन्नो बन जाती है। और जब निर्धन धनी बन जाता है तो परसा, सिब्बा, मन्ना और हर्रा क्रमश: परशुराम, शिवनाथ, मानसिंह और हरदेव हो जाते हैं। जब जिनदत्त और भानुमती पुरिमताल नगर छोड़कर चले गए और जब रत्नपाल के जन्म-जीवन का भेद खुला तो पीछे-पीछे सभी लोग प्राय: यही कहते थे—जिन्नो और भानो तो भाग गए। जाने कहाँ हैं अभागे ? और यह रत्ना टुकड़खोर की तरह दूसरे के घर गुल-छर्रे उड़ा रहा है। लेकिन जब सभी नगरवासियों ने सुना कि अपार धन-सम्पत्ति अर्जित करके रत्नपाल बन्दरगाह पर टिका है तो लोग ऐसे खुश हुए मानो यह धन उन्हीं के घर आयेगा। धन को सब चाहते हैं और इसीलिए धनी को भी न चाहने वाले भी चाहने लगते हैं। रत्नपाल के कुटुम्बी, सम्बन्धी और के परिचित आदि सब रत्नपाल के स्वागत की तै: लगे।

रत्नपाल के सभी जहाज बन्दरगाह पर रुके थे। तट पर वितान तनवाकर सामान उतारा जाने लगा। एक छोटे शिविर में रत्नपाल और राउल योगी बैठे थे। दोनों कुछ बातें कर रहे थे। मन्मन सेठ के पास रत्नपाल ने अपने आने का संवाद भेज दिया था। रत्नपाल को यों सफल होकर लौटने के संवाद से मन्मन को प्रसन्नता नहीं हुई। पर दिखावा भी तो जगत में चलता है। लोक-व्यवहार भी कोई चीज है। इसी सब के नाते मन्मन ने रत्नपाल के स्वागत की तैयारियाँ कीं।

समुद्र-यात्रा करके सकुशल लौट आना, मौत के मुँह से लौट आना माना जाता था। बड़ी-बड़ी नावें ही पहले पानी के जहाज का रूप होती थीं और उनके लिए सदा खतरा बना रहता था। यों कहें कि धनोपार्जन के लिए समुद्री व्यापारी उपार्जन क्रम में अपने जीवन का दाँव लगाते थे। इसीलिए जब भी कोई व्यापारी सकुशल लौटता तो उसके सम्बन्धी, परिवारी और नागरिक भी बड़ा हर्ष मनाते और गाजे-बाजे के साथ उसका नगर-प्रवेश कराते। यही सब रत्नपाल के साथ भी होना था। लेकिन यह [illegible] मात्र मन्मन से ही सम्बन्धित था, जो उसी के पास संदेश भेज दिया। लेकिन रत्नपाल ने एक तो अपने मधुर व्यवहार से सबका हृदय जीत लिया था और दूसरे वह अपार धन लेकर आया था, इसलिए जिस-जिसने सुना, वही सागर-तट पर आया। बहुतों ने आ-आकर अपना गुप्त परिचय भी प्रकट किया—हम तुम्हारे पितृव्य हैं, हम कुलबन्धु (कजिन) हैं, हम तुम्हारे पिता के मित्र हैं, हम उनके मुनीम थे आदि अनेक रूपों में अनेक व्यक्ति रत्न-पाल से जुड़ गए।

किया। अभी तो वही उसका घर था। ऋणमुक्त होने से पहले कहाँ जाए? विशिष्ट नागरिक उपस्थित हुए। ऋणपत्र पर साक्षी करने वाले पाँचों पंच भी एकत्र हुए। सबके सामने ऋण की व्याज जोड़ी गई और रत्नपाल ने अपने पिता का ऋण मन्मन को दिया। मन्मन ने प्राप्त स्वीकृति-पत्र (रसीद) रत्नपाल को दे दिया। फिर रत्नपाल ने उस विक्रय माल का धन भी मन्मन को दिया, जिसे लेकर वह व्यापार करने गया था।

फिर उसने सबके सामने अपने पिता का ऋणपत्र फाड़ डाला और सबके सम्मुख मन्मन से कहा—

"श्रेष्ठिन्! आप मेरे पितातुल्य हैं। बारह वर्ष की उम्र में मैंने विदेशगमन किया था। आज मैं सोलह वर्ष का हूं। सोलह वर्ष तक मैं आपकी ही छत्रछाया में रहा। आपका सब कुछ मैंने लौटा दिया है। वैसे यह घर भी मेरा है। आपके यहाँ रहते हुए भी मुझे कोई दुःख नहीं है। लेकिन मैं अब अपने पिता के घर जाना चाहता हूँ। अतः आप मुझे अनुमति दीजिए। मैं जिस योग्य हूँ, उस सेवा के लिए सदा तत्पर रहूंगा।"

पंचों ने साधु-साधु कहा। मन से दुखी मन्मन ने सोचा—'अपना, अपना ही होता है। आखिर पराया रत्नपाल पराया ही रहा। इसे मैं रोक भी कैसे सकता हूं? यह तो इसकी सौजन्यता है, जो मुझसे अनुमति माँग रहा है। मैं भी शिष्टाचार निभाऊं।' यह सोच मन्मन ने रत्नपाल से कहा—

"वत्स रत्न! जिनदत्त के यहाँ रहते हुए भी
मेरा ही क्यों, पूरे नगर का लाड़ला है तू तो। जा
घर जा। तेरा यश बढ़े, ऐसी कामना मैं करता हूँ

बस अब राउल योगी को साथ लेकर रत्नपाल घर आ गया। पड़ोसी अपने आप उसे घेरकर खड़े हो गए और [illegible] भाँति का परामर्श देने लगे। पड़ोसिन वृद्धा भी चाबियाँ ले [illegible] रत्नपाल ने भवन खोला। जिनदत्त का भवन सात मंजिल का था। सेवक सफाई करने में जुट गए। रत्नपाल ने सब व्यवस्था की। कालकूट से लाया गया सब सामान और [illegible] अपार धन आदि सब भाण्डारों (गोदामों) में भरा। [illegible] कक्ष का निरीक्षण किया रत्नपाल ने। पड़ोसी बताते जाते— यहाँ आपके पिताजी जिनदत्त बैठते थे। यह उनका शयनागार आदि...... .

पुराने सेवक, कार्यस्थ (क्लर्क) मुनीम आदि [illegible] अपना परिचय देने लगे। उनके सहयोग से रत्नपाल ने [illegible] पिता का व्यवसाय पुनः व्यवस्थित किया। अब सब ठीक [illegible] लगा। सब कुछ व्यवस्थित करने के बाद रत्नपाल ने कुछ [illegible] उपहार लिये और नगर के गण्यमान्य व्यक्तियों के साथ [illegible] ताल के राजा शूरसेन की सभा में पहुँचा। राजा को उपहार दिये और प्रणव भाव से अपना परिचय दिया। सोलह वर्षीय रत्नपाल के प्रभावी व्यक्तित्व, योग्यता आदि से राजा [illegible] बहुत प्रभावित हुआ और बोला—

"रत्न ! वस्तुतः तुम रत्न हो। धन्य हैं, जिनदत्त और तुम्हारी माता भानुमती, जिनके तुम पुत्र हो। जिनदत्त को मैं खूब जानता हूँ। उन जैसा श्रेष्ठी एक भी नहीं दीखता। तुम [illegible] भास्कर हो। तुम जैसे नागरिक को पाकर मैं अति प्रसन्न [illegible] जब भी मेरे सहयोग की आवश्यकता पड़े, कहना अवश्य।"

रत्नपाल ने कहा—

"नरदेव ! आप जैसे गुणाशक को पाकर मैं ही क्या, राज्य का जन जन सुखी है। फिर भी मेरी एक प्रार्थना है कि आपकी आज्ञा की प्रेरणा पाकर मेरे पिता के ऋणदाता मुझसे उनसे प्राप्य ऋण ले जाएं और जिन पर मेरे पिता का ऋण है वे भी मुझे दे जाएं।"

"इसमें क्या बात है ? यह हो जायगा।"

यह कह राजा शूरसेन ने तुरन्त नगर में उद्घोष के द्वारा यह घोषणा कराई—

'जिनका ऋण श्रेष्ठी जिनदत्त पर है, वे अपना ऋण ब्याज सहित उनके सुपुत्र रत्नपाल से ले जाएं और जिन पर श्रेष्ठी का ऋण है, वे भी रत्नपाल को दे जाएं।"

घोषणा क्या थी, राजाज्ञा थी। राजाज्ञा का उल्लंघन कौन करता ? जिन्होंने दुर्दिनों में जिनदत्त के प्रतिकूल भाग्य के कारण उसका ऋण दाब लिया था, वे सब ऋणी प्रतिदाता रत्नपाल को जिनदत्त का ऋण देने आने लगे। रत्नपाल कोष में प्राप्त ऋण रखता जाता और सोचता, 'यही प्राप्य यदि पहले मिल जाता तो मेरे माता-पिता नगर छोड़कर क्यों जाते ? पर भाग्य क्या नहीं कर दिखाता ?'

जिनका ऋण जिनदत्त पर था; उन सबका रत्नपाल ने चुकाया। सब ठीक हो गया। तरुण श्रेष्ठी होते हुए भी रत्नपाल अब बड़े श्रेष्ठि समाज में सम्मानित और प्रिय था। वह धन-वित्त में ही नहीं, गुणों में भी अग्रणी था। इस सबके साथ वह राजजामाता भी था। राजकन्या रत्नवती उसकी पत्नी थी। संसार के सभी सुख उसे प्राप्त थे। दास-दासियों का जमघट लगा

रहता था। पर माता-पिता के बिना उसे न तो सरस भोजन [illegible] और न अपना ऐश्वर्य ही अच्छा लगता था।

रत्नपाल सोचता था—'कहां ढूंढूं अपने जनक-जननी को? कैसे ढूंढूं? भूमण्डल तो बहुत बड़ा है। जब तक वे मुझे नहीं मिलेंगे, तब तक मेरा जीवन व्यर्थ ही रहेगा।'

राउल के रूप में रत्नवती उसे सान्त्वना देती—'भाग्य के अनुकूल होने पर सब ठीक हो जायगा। कभी-न-कभी हमें यह पता अवश्य लगेगा कि वे किस दिशा में गये हैं।'

भाग्यवादी और परम आस्तिक रत्नपाल को राउल के शब्दों से क्षणिक सांत्वना तो मिलती, पर चिन्ता नहीं मिटती। भाग्य क्या पुरुषार्थ-पंगु बनाता है? पुरुषार्थ की दिशा न मिलने के कारण रत्नपाल निरुपाय था, पर कुछ करने के लिए छटपटाता अवश्य था।

भाग्य कुछ-न-कुछ अनुकूल या प्रतिकूल संयोग अवश्य जुटाता है। सूत्रधार है भाग्य तो, मनुष्य कठपुतली मात्र। संयोग से रत्नपाल को जिनदत्त को ढूंढने की 'दिशा' मिल गई। कुशस्थल में एक ज्योतिषी आया रत्नपाल ने सम्मानपूर्वक ज्योतिषी से पूछा—

"पूज्य विप्र! मेरे माता-पिता लगभग सोलह वर्ष से इस नगर में नहीं हैं। कहां गए वे? मैं उन्हें कहां ढूंढूं? वे मुझे कब मिलेंगे?

प्रश्न लग्न अनुसार ज्योतिषी ने गणित किया। प्रश्न-फल निकाला और रत्नपाल को बताया—

"वर्षों काट लिये तुमने तो क्या अब छह महीने और नहीं काट सकोगे? छह महीने बाद वे तुम्हें अवश्य मिलेंगे। वे दक्षिण दिशा की ओर गए हैं और उसी दिशा में कहीं रह रहे हैं।"

बड़ा प्रसन्न हुआ रत्नपाल। ज्योतिषी को पर्याप्त द्रव्य पंचांग पूजा (दक्षिणा) में दिया और राउल से बोला—

"हे बालयोगी ! अब मैं अपने माता-पिता को ढूंढ़ने दक्षिण दिशा की ओर जाऊँगा। यह मेरा परम कर्तव्य है। लेकिन तुम्हारी रक्षा-सुरक्षा भी मेरा कर्तव्य है। मैंने अपनी सास कालकूट द्वीप की महारानी वसन्तमाला को वचन दिया था कि रत्नवती के बालसखा राउल की यानी तुम्हारी सुरक्षा अपने प्राणों की तरह करूंगा। इसलिए तुम्हें यहां अकेला छोड़ना तनिक भी उचित नहीं है। तुम्हारे लिए यहां सभी अपरिचित हैं।

"हे बालयोगी ! मेरी विवशता देखकर कुछ अन्यथा मत समझना। मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप यहां मेरे बिना तब रहें, जब तक कि मैं अपने माता-पिता की खोज करूं।"

सब कुछ सुनने के बाद राउल बोला—

"भद्र ! तुम्हारा कथन सर्वथा उचित है। माता-पिता तो मातृ देव हैं। उनसे बढ़कर है ही कौन ? तुम्हें उनकी खोज करनी ही चाहिए। लेकिन यह काम मैं करूंगा। क्योंकि इस हेमन्त ऋतु में तुम पैदल-यात्रा नहीं कर पाओगे। हम जैसे योगियों का तो काम ही घूमना है। योगियों के लिए तो सभी ऋतुएं अनुकूल हैं। तुम यहीं रहकर अपने व्यापार की देख-भाल करो। छह महीने तक मैं निश्चय ही उन्हें लेकर लौटूंगा।"

यह कहकर राउल ने अपनी वीणा उठाई और सचमुच ही चल दिया वह। रत्नपाल ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोला—

"अपनी तो सब कह गये और चल दिये। पर मेरी तो सुनो। मैं तुम्हें कैसे जाने दूं ? उल्टी गंगा बहाऊं मैं ? गृहस्थों

का काम योगी-यती की सेवा करना है। मैं तुमसे सेवा लूं तो कितना अनर्थ होगा ?

"योगिश्रेष्ठ ! पहली बात तो यह है कि पुत्र को ही यह काम करना चाहिए। दूसरे, आप अतिथि हैं। अतिथि से सेवा कराना सर्वथा अयोग्य है। तीसरे विरक्त संन्यासियों से सेवा कभी भी नहीं करानी चाहिए।"

राउल ने कहा—

"श्रेष्ठपुत्र ! व्यर्थ के तर्क वितर्क करने से क्या लाभ है ? क्या मैं नीति-अनीति नहीं जानता ? जो सब संसार को अपना परिवार मानते हैं, उन योगी-यतियों और मुनियों के लिए अपना-पराया कुछ होता ही नहीं।" निरुक्त प्रमाण से अतिथि वही है, जिसके आने की कोई तिथि न हो। मैं तुम्हारा अतिथि कैसे हुआ ? तुम्हारे साथ आया हूं। सखावत् तुम्हारे साथ ही रह रहा हूं। क्या तुम्हारे माता पिता मेरे माता-पिता के समान नहीं हैं ?

"श्रेष्ठिकुमार ! दूसरों की सेवा करना तो यति-मुनियों का धर्म ही है। तुम्हारा आग्रह व्यर्थ ही है। जाने दो मुझे। मैं जाऊंगा अवश्य। और यह भी सुन लो कि यदि छह महीने तक मैं तुम्हारे माता-पिता को न ढूंढ लाया तो तुम्हारे सामने ही अग्नि में जलकर भस्म हो जाऊंगा।"

हाथ छुड़ाकर चल दिया राउल। पीछे-पीछे रत्नपाल भी गया। नगर के बाहर बहुत दूर तक साथ गया रत्नपाल। फिर राउल ने कहा—

"अब लौट जाओ भद्र ! बहुत दूर निकल आये हो।"

"लौटाता हूँ योगिराज !" रत्नपाल ने कहा—"जब तक

आप नहीं लौटेंगे, मेरी आँखें इधर ही देखती रहेंगी। आप आ जाएं तो आपके साथ ही रत्नवती को लेने कोलकूटद्वीप भी जाना है।"

"अच्छा तो अब लौटो।"

यह मोह-नाता तोड राउल चल दिया। फिर उसने एक बार भी मुड़कर नही देखा। रत्नपाल खड़ा-खड़ा गैरिक वस्त्र-धारी राउल को देखता रहा। जब उसका दीखना बन्द हो गया, तब लौटकर आया। राउल से उसकी ऐसी आत्मीयता थी कि उसके बिना भी वह उदास-सा रहता। दिन तो काम में कट जाता, पर रात मुश्किल से कटती। माता पिता नहीं, रत्नवती नहीं और परमप्रिय राउल भी नहीं। अभी तक रत्नपाल को किंचित् भी यह सन्देह नही हुआ था कि राउल ही रत्नवती है। जब राउल को गए छह दिन बीते तो रत्नपाल ने मन-ही-मन कहा—'जब छह दिन बीत गए तो किसी तरह छह महीने भी बीतेंगे ही।' यों आशा का सम्बल लिये रत्नपाल छह महीने बीतने की प्रतीक्षा कर रहा था। यदि प्रतीक्षा का कांटा न हो, तो आशा में सुख ही सुख है। आशा के सहारे तो अभावपूर्ण जीवन भी सरलता से कट जाता है।

× × ×

बाग-बगीचे, नगर गांव—सब का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए राउल सुदूर दक्षिण की ओर बढ़ता जाता था। जहां रात होती, वहीं ठहर जाता। अपने हाथ से बनाकर खाता। वीणा बजाता तो उसके मधुर राग से आकर्षित होकर भीड़ लग जाती। उसी भीड़ में वह पूछता—तुममें किसी का नाम जिनदत्त तो नहीं है? नहीं था जिनदत्त। पानी भरती पनिहारिनों के पास भी पानी पीने

के बहाने राउल पहुंचता और भानुमती की छानबीन करता। खेत काटते किसानों से पूछता। लेकिन ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसे निराशा ही हाथ लगती थी। जिनदत्त-भानुमती का कोई संकेत राउल को नहीं मिला। लेकिन राउल तो उनमें से था, जो हर बार की निराशा में आशा देखते हैं और विफलता को सफलता तक पहुंचने का एक सोपान मानते हैं। सो वह जिनदत्त-भानुमती की खोज करता हुआ बढ़ता ही गया और एक दिन वहीं पहुंच गया, जहां उसे पहुंचना था। वसन्तपुर पहुंच गया बालयोगी राउल। वही वसन्तपुर जहां का राजा जितशत्रु था और रानी थी गुणमाला। वही वसन्तपुर था, जहां बड़े-बड़े धनी श्रेष्ठी रहते थे और एक श्रेष्ठी धनदत्त भी रहता था, जो बुरे का फल बुरा की चिन्ता न करते हुए कौड़ियों के मोल में बारह वर्ष से लाखों-करोड़ों का लोकदुर्लभ काष्ठ खरीदता था—एक भोले-भोले सरलमति लकड़हारे रूप जिनदत्त से। यह वसन्तपुर वही था जहां जिनदत्त और भानुमती सोलह वर्ष से अपने दुर्दिन काट रहे थे और इन्हीं की खोज में राउल यहां आ पहुंचा था।

राउल अभी नगर के बाहर ही था। रात को यों ही एक वृक्ष के नीचे सो गया था। वृक्षादि के मूल ही तो तपस्वियों के घर होते हैं। सवेरे उठकर राउल नगर की ओर चला तो रास्ते में कुछ लकड़हारे बातें करते मिल गए। संयोग से वे जिनदत्त की बातें करने लगे। एक ने कहा—

"एक बात तो माननी पड़ेगी कि जिनदत्त अपनी धुन का पक्का निकला। बारह साल से सूखा काष्ठ ही ला रहा है।

...र से एक ही जगह उसे वर्षों तक समाप्त न होने वाला काष्ट ...ा भी खूब।"

दूसरे ने अपनी टिप्पणी दी—

"यह सब सनक की बातें हैं। सूखा काष्ठ ही काटो, हरे पेड़ ... काटो, यह एक वहम ही है। उसे हमारे मुकाबले कितनी ... जाना पड़ता है, यह भी तो देखो। धर्मपाल के नाम पर ...ना कष्ट उठाया, फिर भी रहा, वहीं का वही लकड़हारा ही। ... मिला उसे!"

बस, इन बातों में राउल को जिनदत्त का नाम सुनाई पड़ ...। पास आकर लकड़हारों से पूछा—

"क्यों भाई! तुम किस जिनदत्त की बातें कर रहे हो?"

"क्यों, आप क्या किसी जिनदत्त को जानते हैं?" लकड़हारे ... उल्टा प्रश्न किया। राउल बोला—

"जानता तो किसी को नहीं, पर उसी से मैं मिलना चाहता ...। कहाँ रहता है वह?"

"पर अब वह नहीं मिलेगा।" लकड़हारे ने कहा—"वह ... मुंह अंधेरे ही लकड़ी काटने चला जाता है। जिस वन में वह ...ता है, वह दूर भी तो बहुत है। इस समय तो उसकी घरवाली ...गुनती मिलेगी।"

दूसरे ने इशारा करके कहा—

"देखो, वह रही जिनदत्त की झोंपड़ी।"

इतना सुनते ही राउल झोंपड़ी की ओर बढ़ गया और लकड़-...हारों ने अपना रास्ता लिया। मन-ही-मन राउल ने सोचा—

'...भाग्य! तेरी लीला बड़ी विचित्र है। कैसे बने-बनाये संयोग

से ही मेरे सास-श्वसुर का पता चला ? मैंने क्या पूछा था किसी से ? वाह रे भाग्य

यों सोचता-विचारता राउल जिनदत्त की झोंपड़ी के पास पहुंच गया। झोंपडी के सामने गोबर से लिपी साफ-सुथरी वेदिका बनी थी। उसी पर राउल ने आसन जमाया और वीणा के तार छेड़ दिये। भक्तिरस से पूर्ण सिक्त भजन गाने लगा राउल। भीतर काम करती हुई भानुमती के कानों में वीणा के मधुर स्वर पड़े तो झांककर देखा—'अरे, ! यह तो कोई बाल-तपस्वी है! कैसा रूप पाया है ! मैं आज कितनी धन्य हुई, जो मेरे घर मुनि आये हैं। साधु-संन्यासी मुनि-यति किसी भी सम्प्रदाय के हों, वे सब समान दृष्टि वाले होते हैं। अपने हाथों को सफल करती हुई, मुझे इनको आहार बहराना चाहिए।' यह सोच भानुमती ने ने जो कुछ रूखा-सूखा था, भोजन लेकर राउल के पास आई और अहकाररहित वाणी में बोली—

"बालयोगी ! मेरी भक्तिपूर्ण भिक्षा स्वीकार करें। भोजन रूखा-सूखा अवश्य है, पर मेरी मुनिभक्ति का रस इसमें अवश्य है। यदि मैं पुरिमताल में होती तो आपकी विशेष सेवा करती।"

पुरिमताल की स्मृति से ही भानुमती की आंखें गीली हो आईं। राउल ने उसे देखा और देखता रहा—'वात्सल्य की कैसी करुण प्रतिमा है यह। मेरी सास कितनी सौम्य और सरलता की मूर्ति है। अहा ! पुत्र-वियोग से कृश होने पर भी कर्तव्य पालन में यह इतनी दृढ़ है ! दारिद्र्य के अनल से झुलसी हुई भी दान देने में इतनी तत्पर ! इसका धन चला गया, पर दानशील मन अभी वैसा ही है। सच ही तो है धूल में गिरने पर रत्न मैला-मटमैला अवश्य हो जाता है, पर रहता तो रत्न ही है।'

राउल इस प्रकार भानुमती के बारे में सोचता रहा और वीणा बजाता रहा। भानुमती के भिक्षा आग्रह का उसने कोई उत्तर नहीं दिया। राउल के मौन से भानुमती कुछ विचलित हुई और पुनः बोली -

"योगिवर ! मेरी भक्ति को स्वीकार क्यों नहीं करते ? यह भिक्षान्न सूखा होने पर भी प्रेम से स्निग्ध तो है। निकृष्ट होने पर भी भक्तिरस से पूर्ण होने के कारण मिष्ट है। ग्रहण करें भगवन् !"

अब राउल ने वीणा एक ओर रखी और भानुमती से बोला—

"माता ! रूखा-सूखा और मोहनभोग—दोनों समान हैं मेरे लिए। तुम्हारी भक्ति देखकर मुझे यह भिक्षा अवश्य लेनी चाहिए, पर अभी आवश्यकता नहीं है। भूख होती तो अवश्य लेता। फिर भूख लगेगी, तब के लिए लेकर रख लूं, ऐसा करना साधकों का काम नहीं। मुनियों को तो जब भूख होती है, तब मिल जाती है भिक्षा।

"माता ! अभी-अभी आपने पुरिमताल नगर का नाम लिया। लिया था न ? सो मैं वहीं से आ रहा हूं। वहां तो बहुत दिन रहा हूं।"

बस, भानुमती की आंखें हर्ष से भर गईं। बोली—

"अरे, तो सच आप पुरिमताल से आये हैं ?"

साधु लोग झूठ क्यों बोलेंगे मां ?"

"ठीक है योगिराज ! फिर तो आप वहां के विशिष्ट लोगों को अवश्य जानते होंगे ?"

"हां माता ! बहुतों को जानता हूं। आप किसके बारे में पूछना चाहती है ?"

भानुमती ने पूछा—

"श्रेष्ठी मन्मन को जानते हैं आप ?"

"हां माता ! उस कृपण धनी को अच्छी तरह जानता हूं।"

भानुमती ने पुनः पूछा—

"तब तो उसके पुत्र रत्नपाल को भी आपने अवश्य देखा होगा ? कितना बड़ा है, वह ? कैसा है रत्नपाल ?"

राउल बोला—

'माता ! भला रत्नपाल को नहीं जानूंगा ? वह तो मेरा परम आत्मीय और अभिन्न मित्र है। पुरिमताल में मैं उसी के पास तो रहा हूं। लेकिन वह श्रेष्ठी मन्मन का तो पुत्र नहीं है। वह तो श्रेष्ठी जिनदत्त का आत्मज और सेठानी भानुमती का अंगज है। आप उसे कैसे जानती हैं ?"

हर्ष से पागल-सी हो गई भानुमती। योगी के चरणों में सिर रख दिया उसने। गद्गद् होकर बोली—

"आपको तो सब रहस्य मालूम है। आज मेरे वर्षों के संकट कट गए। उसके बारे में जितना जानते हैं, सब बताइए योगिराज ! मेरे कान कभी तृप्त नहीं होंगे।"

"हम योगी हैं माता।" राउल ने कहा—"हमसे कोई रहस्य अज्ञात नहीं है। रत्नपाल, जिनदत्त, भानुमती आदि के बारे में मैं सब कुछ जानता हूं।"

"तो फिर सब कुछ बता डालिए भगवन् !" भानुमती ने आग्रह किया। राउल बोला—

"रत्नपाल के माता-पिता सत्ताइस दिन के शिशु रत्नपाल को श्रेष्ठी मन्मन के यहां गिरवी रखकर चले गए थे।"

"हां चले गए थे। फिर ?"

"फिर रत्नपाल बारह वर्ष का किशोर हुआ। मन्मन के एक ऋणी ने उपालम्भ देखकर उसे मन्मन का क्रीतदास कहा।"....

"हां फिर ?"

'फिर रत्नपाल को अपने जन्म का रहस्य एक वृद्ध नागरिक से मालूम हुआ वह साहसी ऋण पत्र के अनुसार अपने पिता को ऋणमुक्त करने के लिए समुद्र पार व्यापार करने गया।"

बोली भानुमती—

"अकेला ? इतना छोटा रत्नपाल समुद्र पार देश में गया ? कैसा है, वह ? कहो, कहो योगिराज ! फिर क्या किया उस असाधारण साहसी ने ?"

राउल ने पूछा—

"लेकिन माता ! रत्नपाल के बारे में आप क्यों सब कुछ जानना चाहती हैं, यह तो बतायें पहले।"

रो पड़ी भानुमती। टप-टप आंसू गिरने लगे उसकी आंखों से। आंखें पोंछते हुए बोली वह—

"योगिराज ! मैं ही उसकी जननी भानुमती हूं। आज उसके कुशल संवाद से ही मैं कितनी प्रसन्न हूं। वे सुनेंगे तो नाचेंगे। अब आगे का वृत्तान्त भी बताइए भदन्त !"

राउल ने बताया—

"माता ! कालकूटद्वीप के राजा की पुत्री रत्नवती के साथ आपके पुत्र ने विवाह किया। वहां से अपार सम्पत्ति लेकर वह रत्नजाल आया। मन्मन का ऋण चुका दिया उसने। अब

वह अपने ही घर रह रहा है और आपसे मिलने के लिए छट-पटाता है। पर दिशा अज्ञात होने के कारण वह कैसे आये आपके पास ?"

"अब हम यहाँ क्यों रहें ? वे आयें तो। जाने जंगल से कितनी देर में लौटेंगे ? आज ही प्रस्तान कर देंगे हम दोनों।"

भानुमति का पुत्र-प्रेम देखकर राउल गद्‌गद् हो गया। आज भानुमती ऐसी खुशी थी कि खुशी के मारे उसकी भूख-प्यास भी गायब हो गई। बार-बार वह जिनदत्त को वनपथ पर देखती—'अभी नहीं आये।' यह कहकर पुनः राउल के पास आ बैठती। फिर वह राउल को झोंपड़ी के भीतर ले गई और चटाई पर बैठाया। बार-बार रत्नपाल की ही बातें पूछती। राउल भी एक-एक प्रसंग को दुहरा दुहरा कर सुनाता।

झोंपड़ी के एक कोने में राउल ने बावना चन्दन के कुछ टुकड़े पड़े देखे। पारखी राउल ने विस्मय से देखते हुए बावना चन्दन के एक टुकड़े को हाथ में उठाया और भानुमती से पूछा—

"माता ! यह कहां से आया ?"

"आता कहां से ?" भानुमती बोली—"भूल गए आप ? अभी-अभी तो बताया था कि रत्नपाल के बापू रोज सुदूर वन से यही काष्ट लाते हैं। उसी में के ये कुछ काष्टखण्ड हैं।"

राउल ने एक खण्ड अपनी झोली में डालकर पूछा —

"तो इसे बेचते कहां हैं ?

भानुमती ने बताया—

"अब बारह साल से घूमना नहीं पड़ता। एक ही बंधा हुआ ग्राहक मिल गया है। यहाँ एक धनदत्त सेठ है, वही इनसे काष्ट खरीदता है।"

सब कुछ समझ गया राउल। धनदत्त की धूर्तता उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। "अब मैं चलूँगा माता!" यह कहते हुए राउल उठा और बोला—"अब मैं फिर आऊँगा। तब तक वे भी आ जायेंगे।"

"बस वे आते ही होंगे।" यह कह भानुमती ने राउल को हाथ पकड़कर बैठाया और फिर जिनदत्त की झलक दिखाई पड़ गई तो बोली - "यह लो, वे भी आ गए।" दौड़कर बाहर भागी भानुमती और हर्ष से उन्मत-सी एक ही साँस में कहती चली गई—

"भाड में फेंको, इस कुठार को। अब कहीं नहीं जाना है। तैयारियाँ करो। आज ही पुरिमताल चलना है। देखो तो कौन आये हैं ये! बालयोगी राउल हैं। बहुत दिनों तक हमारे रत्न-पाल के साथ रह रहे हैं। अरे, आप देख क्या रहे हैं? क्या अब भी रत्नपाल सत्ताईस दिन का ही होगा? अब तो बहुत बड़ा हो गया है यह—बहुत बड़ा। अब उसके ठाठ आप क्या पूछते हैं?"

अभी जाने क्या-क्या कहती भानुमती कि राउल ने टोका—

"माता! हर्ष का आनन्द भी अधैर्य से फीका हो जाता है। इन्हें बैठने तो दो मैं सब कुछ इन्हें भी बताऊँगा।"

आकस्मिक हर्ष सवाद को सुनकर जिनदत्त गूँगा हो गया था। मुँह बन्द किये, कभी वह भानुमती को देखता और कभी राउल को। बिना कुछ बोले ही वह बैठ गया। मानो मौन भाषा में पूछ रहा हो—जो कुछ मैंने सुना है, क्या यह सत्य ही है? क्या सचमुच ही रत्नपाल ने मुझे ऋणमुक्त कर दिया है? क्या मेरा दुर्भाग्य अब नहीं रहा? क्या बीत गए सोलह वर्ष? जिनदत्त के मौन का आशय समझते हुए राउल ने कहा—

"श्रेष्ठिन् ! मैं सचमुच ही पुरिमताल से आ रहा हूं। कुछ दिनों तक रत्नपाल के पास रहा हूं। आपका वह सपूत दर पुरिमताल में छा गया है।"

फिर तो राउल ने रत्नपाल का समस्त वृत्तान्त पुनः पुनः जिनदत्त को सुनाया। अब तो सच ही जिनदत्त बच्चों की तरह उछलने कूदने लगा और बोला राउल से—

"योगिराज ! आपने हमें ऐसा शुभ संवाद दिया है कि मन्मन से मैं उऋण हो गया, पर आपसे नहीं हो सकता। मेरे पंख होते तो अभी उड़कर पुरिमताल पहुंच जाता। उधर से तो रुकते-ठहरते आया था और अब तो दौड़कर जाऊंगा।"

राउल बोला—

"श्रेष्ठिन् ! क्या मैंने बहुत बड़ा काम कर दिया? जो इतना भी न कर सकें, वे मनुष्य है ही कब? साधुओं का तो जीवन ही परोपकार के लिए है। अब मेरी इतनी और सुनें कि कुछ दिनों बाद मैं भी पुरिमताल जाऊंगा तब तक आप ठहरें, मेरे साथ ही चलें।"

"हां हां, आपके साथ ही चलेंगे। आपके सहयोग से हमारी ... सरल हो जायगी।"

बस, अब राउल नहीं रुका और चल दिया वहां से। पहले ...मकर नगर को देखा। जिधर से निकलता, उधर ही आंखें उसे देखने उठ जाती। अपनी तरुणवय के कारण राउल वसन्तपुर-वासियों के लिए विशेष आकर्षण और श्रद्धा का कारण बना। दो-तीन दिनों में ही उसे सब जान गए।

रत्नवती ने अपने पिता के यहां गांधर्व विद्या में निरंतर निपुणता प्राप्त की थी। वीणा-वादन में तो वह एक ही थी—

ाक्षात् सरस्वती । अतः किसी उद्यान, चौराहे, पनघट के समीप
ंगी चबूतरे पर राउल जब सात स्वरों को साधकर वीणा
जाता तो उसका वादन सुनने ठट्ठ लग जाते । वह भक्तिरस
पूर्ण ऐसे गीत गाता कि श्रोता मुग्ध हो जाते । इसके अति-
रिक्त राउल का रहन सहन भी सबको श्रद्धावनत करता ।
ह स्व-पाकी बालयोगी था । अपने हाथ से पकाकर ही खाता ।
हुत-बहुत आग्रह करने पर भी वह किसी के घर से बना-बनाया
स्वादु भोजन ग्रहण नहीं करता था । उनके ऐसे आचरण को
खकर लोग कहते— धन्य साधना ! धन्य तप ! ऐसे तारुण्य में
सी कठोर साधुचर्या ! !

छह दिन यों ही बीत गए । राउल ने धूर्त धनदत्त का पता
ी लगा लिया । पर अभी उसके हाथ में ऐसी कोई युक्ति नहीं
ाई, जिससे वह धनदत्त को पाठ पढ़ाता । इसी काम के लिए
। राउल अभी वसन्तपुर में रुका था वरना तो वह स्वयं भी
पने सास-श्वसुर – भानुमती-जिनदत्त को लेकर पुरिमताल जाना
ाहता था । भानुमती और जिनदत्त ने उससे पूछा भी—

"महाराज ! आप कब प्रस्थान करेंगे !"

राउल ने कहा—

"सभी काम समय पर होते हैं, समय से पहले कुछ नहीं
ता । मैं भी स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने का इच्छुक
हीं हूं । अतः समय की प्रतीक्षा करो । इतने वर्ष समय की
ीक्षा में काट लिये, तो चन्द दिन और नहीं काटोगे ?

"काटेंगे महात्मन् !" जिनदत्त ने कहा—"आपके वचन
माण हैं हमारे लिए । आप जो भी करेंगे, हमारी भलाई के

लिए ही करेंगे। अब कभी नहीं टोकेंगे आपको। जब आप कहेंगे, तभी हम चलेंगे।"

समय की बात सच है। समय आने पर ही अनुकूल संयोग बनते हैं। भाग्य संयोग से एक दिन राउल के लिए अनुकूल संयोग अपने आप बन गया कोई सोच भी नहीं सकता था कि ऐसा हो जायगा। आखिर वह काम हो ही गया जिसके लिए राउल वसन्तपुर में रुका था, और काम न होने तक रुकना चाहता था।

× × ×

वसन्तपुर का राजा जितशत्रु दाघ-ज्वर से तप्त-पीड़ित हो गया राजा था, सो चिकित्सकों का तांता लग गया, पर राजा को नीरोग करना तो दूर कोई वैद्य उसके ताप को किंचित् घटा भी नहीं पाया। तप्त तवे की तरह राजा की देह दहकती थी। कराहते हुए राजा ने मन्त्री से कहा—

"मन्त्री ! क्या यह ज्वर मेरे प्राण लेकर ही रहेगा ? यह ज्वर है, या काल ज्वर ? यदि कोई वैद्य मेरे ताप को नहीं घटा सकता तो उससे कहो, मुझे मारने की औषध ही दे दें।"

राजा के ऐसे प्रलाप से उसकी रानी बहुत अधीर हो गई। मन्त्री ने विचार करके कहा—

"राजन् ! कभी-कभी योगी-यती बड़े चमत्कार के काम कर दिखाते हैं। हमारे नगर में तरुणवय का एक दिव्य योगी आया हुआ है। वह आपकी ज्वर-शान्ति के लिए अवश्य ही कुछ कर सकेगा, क्योंकि योगीजन संसारियों के सभी तरह के दुखों को दूर करने में समर्थ होते हैं।"

"तो उन्हीं महात्मा को बुलाओ।"

बस देर क्या थी ? मन्त्री राहुल के पास पहुँच गया और राजा के ज्वर की बात कही। राहुल बोला—

"वैसे तो हम गृहस्थों के संसर्ग से दूर ही रहते हैं, पर परोपकार के लिए सब जगह जाते हैं। चलो चलते हैं।"

राजा के उपचार-गृह में पहुंच गया राहुल। राजा ने आंखें खोलकर एक दृष्टि राहुल के दीप्त वदन पर डाली और कराहते हुए बोला—

"बचा लो मुझे ! आग-सा तप रहा हूं।"

राहुल ने राजा के माथे पर हाथ रखा। पेट देखा और फिर नाड़ी देखकर कहा—

"दाघ-ज्वर है। ठीक हो जाएगा। लेकिन इसके लिए हरिचन्दन चाहिए। आपके नगर में अवश्य मिलेगा।"

"हरिचन्दन ?" मन्त्री ने पूछा।

"हां हरिचन्दन।" राहुल ने कहा—"इसे ही गोशीर्षचन्दन और अमरचन्दन भी कहते हैं। बावना चन्दन नाम तो सुना होगा ? हां वही। झट से ले आओ। महाराज का ज्वर तभी ठीक होता है।"

मन्त्री स्वयं गया। राजसेवकों को भी आदेश दिया। पूरा वसन्तपुर छान मारा, पर हरिचन्दन कहीं नहीं मिला [illegible] के क्रम में धनदत्त से भी पूछा गया। उसने भी [illegible]

निराश लौटा मन्त्री। आकर कहा—

"कहीं नहीं मिला।"

"कहीं नहीं मिला ?" राजा ने कहा—"तो क्या मुझे ऐसे ही जलना [illegible] का बताया चन्दन तो मिला नहीं। अब

"मिलेगा। मिलेगा क्यों नहीं?" राउल ने कहा—"यहीं मिलेगा। अवश्य मिलेगा, यहीं मिलेगा।"

यह कहते हुए राउल ने अपनी झोली में हाथ डालकर कहा—

"हरिचन्दन! शीघ्र ही आजाओ। गुरु का आदेश है। मेरा आदेश है कि तुरन्त आओ।"

तुरन्त आ गया हरिचन्दन। राउल ने झोली में से बाहर हाथ निकाला तो बावना चन्दन का खण्ड उसके हाथ में था। सब चकित रह गए। राजा ने ही कहा—

"ओह! ऐसे हैं आप। इस छोटी वय में इतनी सिद्धि।"

राजा से कुछ न कह राउल ने मंत्री को चन्दन दिया। तुरन्त घिसा गया चन्दन। राउल ने मन्त्र पढ़ने का किंचित दिखावा किया और वह चन्दन राजा के तन पर लगाया गया। बावना चन्दन का प्रभाव तो अमोघ होता है। तुरन्त लाभ हुआ। चैन पड़ गया राजा को। दाघज्वर शांन्त हो गया। राउल ने कहा—

"एक-दो बार लेप और कर देना। रहा-सहा ज्वरांश भी हो जायेगा। मैं चलता हूं अब।"

"जायेंगे आप?" राजा ने राउल के पैर पकड़ लिये। बोला—"स्वामिन्! मुझे धन्य करते जाइए। कुछ आदेश करें। मैं क्या सेवा करूं आपकी। अपनी शक्तिभर मैं आपकी सेवा करने का बहुत इच्छुक हूं।"

राउल बोला—

"राजन्! क्या मांगू आपसे? हम योगी-यती महा अकिंचन होते हुए भी, कहीं ऐसी गुंजाइश नहीं देखते कि कुछ मांगें। जो

निराशा में भी आशा देखते हैं, अकिंचनता ही जिनकी सम्पत्ति है, वह किसी से आखिर मांगे तो किस प्रयोजन से मांगे ? भूमि योगियों की शय्या है। वृक्ष का मूल उनका घर है। उपवास उनका चिकित्सक है और समस्त सृष्टि जिनका परिवार है। ऐसे योगियों को उदरपूर्ति के लिए यथासमय भिक्षान्न मिल ही जाता है, वे फिर किसके लिए मांगे ?"

राउल ने इन निस्पृह वचनों से सभी हर्षित हुए। राजा तो इतना प्रभावित हुआ कि क्या कहें ? उसने पुनः प्रार्थना की—

"योगिराज ! अपने भक्त मुझ अकिंचन की खुशी के लिए कुछ तो मांग ही लीजिए। आप परम शक्ति-सम्पन्न और परोपकारी हैं। आपका मांगना भी परोपकार से पूर्ण होगा।"

कुछ सोचकर राउल ने कहा—

"अच्छी बात है। मैं तुम्हारी इच्छा को संजोकर रखे लेता हूं। अवसर आने पर अवश्य मांगूगा।"

"मैं धन्य हुआ।" राजा बोला—"यदि आप न आते तो जाने मैं कैसे ठीक होता। होता भी कि नहीं।"

चलते चलते ठिठक गया राउल और राजा से बोला—

"राजन् ! इतना तो आप सोचते हैं कि मेरा ज्वर कैसे ठीक होता। लेकिन आपने यह क्यों नहीं सोचा कि ज्वर आया क्यों !

"राजन् ! रोगी मनुष्य भी अपराधी है। **ऐसा अपराधी**, जिसे न्यायपीठ में दण्ड मिलना चाहिए। हम **दसों इन्द्रियों** से
सुख चाहते हैं और कभी उपार्जित धन का दसांश
सब भोजन स्वयं खाते हैं और कभी ऐसा
कभी हम उपवास रखें और उस दिन का

खिलायें। यह तो सीधा-सा नियम है कि सुख देने से सुख मिलता है और दुःख देने से दुःख।

"राजन्! दान, तप, इन्द्रिय आसक्ति और प्राकृतिक नियमों का खण्डन करना ही रोगों को जन्म देते हैं।"

मन-ही-मन सोचा राजा ने—'इतनी छोटी उम्र में इतना ज्ञान! बड़ा चमत्कारी है यह योगी तो!' बस फिर राउल वहां रुका और सीधा बाहर आया। अब उसे रात होने की प्रतीक्षा थी। रात हुई तो राउल धनदत्त के गृहद्वार पर आसन जमाकर बैठ गया। घर पर सेठानी धनश्री अकेली ही थी।

राउल की वीणा का स्वर सुन धनश्री बाहर आई और बोली—

"योगिन्! मैं अकेली हूं। मेरे स्वामी अभी दुकान से नहीं आये। आप असमय में यहां क्यों यह तान छेड़ रहे हैं? चले जाएँ और मेरे अविनय को क्षमा करें।"

वीणा बजाना बन्दकर राउल ने कहा—

"शुभे! हम परोपकारी यती किसी का अनिष्टकारी नहीं देख सकते। तुम पर और तेरे पति पर अकल्पित संकट आने वाला है। उसी आसन्न अनिष्ट की सूचना देने मैं विकाल वेला में आया हूं।"

बड़े धीमे स्वर में पूछा धनश्री ने—

"अनिष्ट? कैसा अनिष्ट? बतायें तो।"

"तो सुनो।" राउल ने चारों ओर देखकर धीरे से कहा—"राजा दाघ ज्वर से आक्रान्त था। तेरे पति के पास ढेरों बावना चन्दन था। फिर भी उसने राजा के सेवकों से इन्कार कर दिया। जाने कैसे, अब राजा को पता चल गया है कि तुम्हारे यहां विपुल

परिमाण में बावना चन्दन है। यह तो जानती ही हो कि रुष्ट राजा फिर आगा पीछा नहीं देखता। राजा के सेवक आयेंगे। वे घर-घर की तलाशी लेंगे और तुम्हारे यहां की तो विशेष रूप से। जितना भी चन्दन होगा, वह सब तो ले ही लेंगे और कठोर दण्ड देंगे, सो अलग। राजा का क्या है, कुछ भी दण्ड दे। समस्त सम्पत्ति का हरण कर लेगा। देश-निकाला और मृत्युदण्ड तक दे सकता है।"

बहुत घबराई धनश्री। राउल के पैरों में गिर कर बोली—

"परोपकारिन्! अब और किसी से मत कहना। मैं उपाय करती हूं, राजकोप से बचने का।"

"हां, इस अनिष्ट से बचने का उपाय शीघ्र कर डालो। सवेरे ही राजसेवक आयेंगे। एक टुकड़ा भी न रखें।

अपना काम करके राउल चलता बना। इधर धनश्री तुरन्त पति के पास दुकान पर पहुंची। उसे देख धनदत्त ने आश्चर्य से पूछा—

"अरे तुम कैसे चली आई? आज क्या हो गया तुम्हें जो कुल-मर्यादा तोड़कर यों दुकान पर चली आई?"

"पहले घर चलो।" धनश्री ने क्षोभ के स्वर में कहा—"प्राणों से अधिक नहीं है कुल-मर्यादा।"

पत्नी की घबराहट देख धनदत्त ने और कुछ नहीं पूछा और दूकान को यों ही सेवकों पर छोड़ पत्नी के साथ चल दिया। घर पहुंचकर एकान्त में धनश्री ने कहा—

"अति लोभ का परिणाम सामने आ गया। अब क्या करोगे? आपका संचय और लोभ राजकोप का निमित्त बनेगा।"

फिर धनश्री ने पूरी बात बताई। बहुत पछताते हुए धन-दत्त बोला—

"वाह रे मेरे भाग्य ! क्या हो गया था मुझे ? राजसेवकों को एक टुकड़ा दे देता तो क्या बिगड़ जाता ? अब तो सब जायगा। राजा दण्ड देगा सो अलग। मैंने व्यर्थ ही भोले जिनदत्त को ठगा। हाय अब क्या करूँ मैं ?"

फिर बोला धनदत्त—

"प्रिये ! हम दोनों ही अनिष्टकारी इस बावना चन्दन को किसी ऐसे स्थान पर फेंक दें, जहां किसी की दृष्टि न पड़े।"

बस दोनों पति-पत्नि ने सिर पर रख-रख कर समस्त बावना चन्दन घर के पिछले द्वार से एक खण्डहर में फेंक दिया। एक टुकड़ा भी नहीं छोड़ा। धनश्री ने रात में ही वह स्थान भी लीप दिया, जहां बावना चन्दन रखा था, ताकि रही-सही गंध भी न रहे। बार-बार पछताते हुए भी धनदत्त ने निश्चिन्तता की सांस ली।

राउल तो जानता था कि धनदत्त कहीं-न-कहीं बावना चन्दन फेंकेगा अवश्य। रात में ही घूम-फिर कर उसने चन्दन के ढ़ेर का पता भी लगा लिया। अब उसे वसन्तपुर में रहने की क्या जरूरत थी ? दूसरे दिन सवेरे राजा के पास गया और

"राजन् ! आपने कुछ मांगने को कहा था, सो मुझे चन्द बैलगाड़ियां चाहिए। जगह-जगह घूमने की अपेक्षा मैंने यही उचित समझा है कि कहीं एकान्त में मठ बनाकर जप-तप करूँ। यहां के कुछ नागरिकों ने मुझे मठ के लिए कुछ काष्ट दिया है। बैलगाड़ियों में वही संगृहीत काष्ट ले जाना है।"

राजा बोला—!

"महात्मन्! बैलगाड़ियों का आपने क्या मांगा? जितनी चाहिए उतनी लीजिए। पर आप जायेंगे क्यों? यहीं रहें। यहां के सब लोग आपके सत्संग से लाभान्वित होते हैं। मैं आपसे आग्रहपूर्वक निवेदन करता हूँ कि आप कहीं मत जाइए। मैं यहीं आपके लिए मठ बनवा दूंगा।"

राउल ने कहा—

"राजन्! यह तो बहुत प्रचलित कहावत है कि बहता पानी और रमता जोगी। हम लोग एक ही स्थान पर बहुत दिन कैसे ठहर सकते हैं? अधिक दिन रहने से स्थान मोह भी हो जाता है

"राजन्! जैसे गृहस्थ लोगों में साधु-सन्यासियों के पास रहने से वैराग्यभाव उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही यदि योगी-यती गृहस्थों के संसर्ग में अधिक रहें तो उनमें भी विकार आ जाते हैं।"

राजा ने तर्क दिया—

"योगिश्वर! न तो सब गृहस्थ एक-से होते हैं और न सब सन्यासी। जो जड़ गृहस्थ हैं वे कितने ही दिन मुनियों के पास रहें—उनकी वाणी सुनें, उनमें वैराग्य भावना जागृत नहीं होती और आप जैसे ज्ञानी, तपोनिष्ठ साधुओं पर तो गृहस्थों का संसर्ग कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। अतः मुझ अकिंचन की प्रार्थना मत ठुकराइए। आपकी जाने की सुनते ही मेरे प्राण कण्ठ में आते हैं। मत जाइए दीनबन्धो!"

राउल ने दृढ़ता से कहा—

"राजन्! योगी-यती आग्रह-प्रधान नहीं होते, इच्छाप्रधान होते हैं। अतः आप गाड़ियों का प्रबन्ध करें।"

राजा को मानना पड़ा। मानना तो पड़ता ही। गाड़ियों का

प्रबन्ध हो गया। समस्त बावना चन्दन राउल ने गाड़ियों में भरवा दिया और गाड़ियां नगर से बाहर पुरिमताल के मार्ग में खड़ी करवा दी। फिर आया राउल जिनदत्त और भानुमती के पास आते ही बोला—

"आप तैयार हो जाइए। मैं अब जा रहा हूं।"

"बस तैयार ही हैं।" जिनदत्त ने कहा—"सब तो कुछ तो बँधा-बँधाया रखा है।"

जिनदत्त ने पोटलियां उठाईं। कुछ सामान, भानुमती ने भी लिया। राउल ने दोनों के हाथ से कुछ सामान ले लिया। दोनों ही—'हैं……हैं……यह क्या करते हैं आप?' कहते रहे। सामान गाड़ियों में रखा गया। एक गाड़ी बिलकुल खाली थी। वह राउल ने जिनदत्त और भानुमती के लिए ही खाली छोड़ी थी। अतः राउल ने दोनों से आग्रह किया—

"गाड़ी में बैठें। गाड़ी क्या खाली जायगी? गाड़ी होते पैदल चलेंगे?"

जिनदत्त बोला—

"पैदल ही तो आये थे। तब दुःख के भार से दबे थे और अब तो मिलन-उत्साह से पुरिमताल की दूरी भी कम हो गई है।"

"ये सब काव्यरस की बातें हैं।" राउल ने कहा—"इसमें समझदारी भी क्या है कि वाहन के रहते आप पैदल चलें?"

"और आप?" भानुमती ने राउल से पूछा। राउल बोला—

"मेरी और बात है। पैदल चलना तो हमारी साथ परम्परा में है और मैं तरुण हूं और आप वृद्ध हैं। बैठो, जल्दी बैठो। देर होती है।"

जिनदत्त-भानुमती गाड़ी में बैठे गाड़ियां चलने लगीं। राउल पैदल ही चला। मोह की माया ऐसी प्रबल होती है कि भानुमती और जिनदत्त—दोनों ही मुड़-मुड़कर बसन्तपुर को देखकर परस्पर कहते थे—'सोलह वर्ष इस नगर में रहे। सब जाने-पहचाने और अपने से हो गये थे। आज यह नगर छोड़ना पड़ रहा है।'

जिनदत्त बोला—

"मुझे तो ऐसा लगता ही न था कि मैं परदेस में रह रहा हूं। देखो, यहीं से मैं उस पहाड़ी जंगल में सूखा काष्ठ लेने जाता था।"

भानुमती ने पूछा—

"कुल्हाड़ी दे आये न ?"

"हां दे आया, अपने साथी लकड़हारे को। उसकी टूट गई थी। जब दी तो बड़ा खुश हुआ। रोता था बेचारा। मुझे अब क्या करना है कुल्हाड़ी का ?"

"तो अब हमारी झोंपड़ी में वही रहेगा न, जिसे आपने कुल्हाड़ी दी है।" भानुमती ने पूछा।

जिनदत्त बोला—

"हां, वही रहेगा। उससे मैंने कह दिया है कि तुम्हारे पुष्प-पादपों और तुलसी के बिरवा को सींचता रहे।"

"अब मेरे क्या है ? सब उसी के हैं, जो रहेगा हमारे कुटीर में।"

भानुमती ने ये शब्द कुछ ऐसे भाव से कहे थे, मानो बसन्त-पुर छोड़ना उसे अखर रहा हो। उसके इन भावों को समझकर जिनदत्त ने कहा—

'प्रिये ! सोलह वर्ष तुम वसन्तपुर में रहीं, इसलिए तुम्हें यहां से मोह हो गया है। इसी बात को लेकर विचार करो कि मोह कैसा अज्ञान है ? सब दुखों का मूल मात्र यह मोह ही है, वरना दुख की बात ही क्या है ? आज हम अपने पुराने वैभव का आलिंगन करने लौट रहे हैं। वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, उस रत्नपाल के पास जा रहे हैं। फिर भी मन कचोटता है तुम्हारा। झूठ क्यों कहूं, मेरा मन तो कचोटता है। मोह की माया ही ऐसी है।

'प्रिये ! यही हाल तब होता है, जब आत्मा बार-बार देह धारण करता है। जो स्थिति अथवा जो सम्बन्ध हमारा वसन्तपुर से है, वही सम्बन्ध आत्मा का देह से होता है। लेकिन देही तो यही सोचता है कि यह देह मेरी ही है। अतः देह त्यागते समय उसे ऐसा ही दुःख होता है, जैसा हमें वसन्तपुर छोड़ते समय हो रहा है।"

बात ठीक थी। भानुमती भी समझती थी। इसलिए उसने जिनदत्त की बात पर कोई टिप्पणी नहीं की और दूसरी बात कही—

"तो हमारा रत्नपाल अब राजजामाता हो गया है ! जाने क्यों, मुझे विश्वास नहीं होता कि वह इतना बड़ा हो गया। मुझे तो अभी तक उसकी वह छवि याद है, जब मैंने सत्ताइस दिन का छोड़ा था। तब कैसे टुकर-टुकर मेरी ओर देखता था।"

"दिन जाते देर क्या लगती है ? सोलह वर्ष ही बीत गए।"

"पर अब तो इन दिनों का बीतना अखर रहा है, कितने दिनों में कि हमारी गाड़ी पुरिमताल पहुंचेगी।"

इसी तरह भानुमती-जिनदत्त बदले-बदलते भिन्न-भिन्न प्रसंगों

र बातें करते हुए दूरी कम कर रहे थे। गाड़ियां चल रही थी।
उल अपनी बावना चन्दन से भरी गाड़ियों के साथ साथ पैदल
रहा था। कभी वह इनकी गाड़ी के पास आकर इन्हीं के
थ चलता। रात होने पर वह अलग किसी पेड़ के नीचे
ता। कभी-कभी जिनदत्त-भानुमती सोचते थे कि इतना त्यागी
र तपस्वी होते हुए भी यह राउल हमारे साथ एक स्वजन की
ह व्यवहार करता है। सम्भव है, पूर्व जन्म का कोई अपनत्व
सके संस्कारों में हो।

ज्यों ज्यों रात-दिन बीतते, त्यों-त्यों वसन्तपुर की दूरी बढ़ती
ाती थी और पुरिमताल की घटती जाती थी।

×

8

रत्नपाल नगर के बाहर जहां तक राउल को पहुंचाने गया था, अब वह उस स्थान पर बार-बार टकटकी लगाकर उधर ही देखकर कहता—'राउल अभी नहीं आया। कब आयेगा ? क्या ज्योतिषी की भविष्यवाणी गलत निकलेगी ? उसने तो कहा था कि छह महीने के अन्दर मेरे माता-पिता मुझे मिलेंगे। महीने बीत गए। राउल उन्हें लेने गया था और अभी तक नहीं लौटा। अगर उसे कुछ हो गया तो मैं राजा कृष्णायन को कैसे मुंह दिखाऊंगा ? फिर तो रत्नवती भी पूछेगी कि मेरा बाल-... कहां है ?'

इस तरह रत्नपाल बड़ी उत्कटता से राउल और उनके साथ अपने माता-पिता के लौटने की प्रतीक्षा करता था। राउल के बिना तो वह अपंग-सा हो गया था। उसका किसी काम में मन नहीं लगता था। उसकी वेदना को कम करने के लिए उसके कुटुम्बी... उसके पास आते और उसे समझाते—

"बेटा ! भाग्य सब कुछ करा देता है। वरना ऐसा होता ही क्योंकि जिनदत्त चुपचाप नगर छोड़ जाता ? हम क्या मर गए थे ? यदि वह कहता कि नौबत यहां तक आ पहुंची है तो क्या हम ऐसा होने देते कि तू मन्मन के यहां गिरवी रखा जाता ? ... हम तो उसे कभी न जाने देते। लेकिन ऐसा होना ही था, ... हुआ। अब भी जो होना है, सो होगा। होगा यह है कि जिनदत्त ...

और भानुमती अवश्य आयेंगे। होनहार को प्रबल मानकर तू धैर्य धारण कर बेटा!"

इन वचनों से तसल्ली तो हुई रत्नपाल को, पर छह महीने के बीतने के बाद से तो नगर के बाहर जाकर राउल की प्रतीक्षा में बैठने का अपना नियम उसने नहीं छोड़ा। एक दिन उसकी प्रतीक्षा सफल हो गई। दूर से उसे राउल अकेला आता दिखाई दिया। गैरुए रंग का कंधा चमका। फिर वीणा भी दिखाई दी—"अरे यह राउल आ रहा है। क्या ?........हां राउल तो है ही।" दौड़कर भागा रत्नपाल। भावावेश में उसे अपने वक्ष से लगा लिया और पूछा—

"रत्नवती के सखा राउल! आ गए तुम? बड़ी प्रतीक्षा कराई? छह महीने कब के बीत गए?"

राउल बोला—

"मुझे अपनी प्रतिज्ञा याद है। भूला नहीं हूं। आज ही ठीक छह महीने होते हैं। भावावेश में तुम गणना गलत कर गए श्रेष्ठिनन्दन!"

"चलो हो गई गणना। अब यह बताओ कहां हैं, मेरे जनक-जननी।"

"सब कुछ बताता हूं। पहले घर तो चलो।"

यह कह राउल नगर की ओर चल दिया और मार्ग में ही कहता गया—

"वे नगर के बाहर दूर उद्यान में बैठे हैं। दूर से ही दीख जायेंगे। पेड़ के पास गाड़ी खड़ी है और दो बैल भी बंधे हैं। सामान है उनका। वैसे और मानी भी उद्यान में है

उनके अनुकूल वस्त्रालंकार दो। मैं उन्हें लेकर उनके पास जाता हूं तुम आना।"

यही हुआ। राउल पहले सुन्दर, स्वच्छ और नये वस्त्र लेकर उद्यान पहुँचा? बहुमूल्य आभूषण भी साथ लिये। जिनदत्त ने लकड़हारे के फटे-मैले वस्त्र उतारे। रेशमी अँगरखा पहना। सिर पर उष्णीश बांधा, जिसके ऊपर सुनहरी तारों का तुर्रा सोहता था। मस्तक के ऊपर, उष्णीश के अग्र-भाग पर रत्न जड़े थे। कंठ में हार धारण किया। सफेद धोती पहनी। पदत्राण भी कीमती थे। अब वह पहले जैसा सेठ बन गया। भानुमती ने भी वस्त्र बदले। उसके नीले कंचुक पर पीली साड़ी बहुत फबती थी। सभी आभूषणों से सज गई सेठानी भानुमती।

इधर रत्नपाल ने सबसे कह दिया। कुटुम्बी इकट्ठे हुए। राजा सूरसेन भी जिनदत्त की स्वागत यात्रा में शामिल हुआ। वाहन सजने लगे। वाद्यों की व्यवस्था हुई। रत्नपाल ने अपने विशेष सेवकों से कहा

"इस तैयारी में दो प्रहर लगेंगे। यथासमय तुम सबको साथ लेकर उद्यान आना। मैं अब प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मैं चलता हूँ। वहीं मिलूंगा।"

यह कह रत्नपाल राउल के साथ उद्यान पहुंचा। दूर से ही देख लिया उसने अपने वन्दनीय माता-पिता को। दौड़कर चरणों में गिरा। भानुमती मूक हो गई। जिनदत्त भी अवाक् हो गया। कोई नहीं बोल पा रहा था। भानुमती रो रही थी। जिनदत्त की आंखें भी गीली थी और रत्नपाल तो अपना मस्तक उठाता ही न था। बड़ी देर यही दशा रही। आनन्द के

ङ्गण ऐसे थे कि इनका वर्णन किसी कवि की लेखनी नहीं कर सकती थी।

भानुमती ने रत्नपाल को वक्ष से चिपका लिया था। जिनदत्त उसके सिर पर हाथ फेर रहा था। बार-बार माथा सूँघती थी भानुमती। फिर बोली वह—

"मेरे रत्न! तू इतना बड़ा हो गया है। लेकिन मैं तो आज भी तुझे गोद में लेकर चलूँगी। हाय कैसा है यह विधाता कि पुत्रवती बनकर भी मैं अपने पुत्र को गोद में नही खिला पाई।"

जिनदत्त बोला—

"रत्नपाल! कभी तो बड़ा होता ही हमारा बेटा। पिछली बातों पर अब मलाल करने से क्या लाभ? और बातें करो।"

"तो क्या मैं अपनी इस इच्छा को पूरा न करूँ कि अपने लाल को गोद में लूँ?"

उत्तर दिया रत्नपाल ने—

"अम्ब! अब मैं भारी भी तो बहुत हो गया हूँ। कैसे उठाओगी? मेरा मन तो सदा तुम्हारी गोद में ही रहेगा।"

हँसकर बोली भानुमती—

"तू भी अपने बाप-सा चतुर है। जुग-जुग जियो मेरे लाल! आज मैं सच्चे अर्थों में पुत्रवती ही नहीं सौभाग्यवती हूं।"

"तुम अकेली ही क्यों?" जिनदत्त बोला—"मैं भी तो आज महाभाग्यवान जिनदत्त हूं।"

इन्हीं बातों में रत्नपाल का ध्यान राउल की अनुपस्थिति पर गया। चारों ओर देखकर बोला—

"अरे! वह राउल कहाँ गया?"

"हाँ राउल? अरे अभी तो यहीं था।" जिनदत्त ने कहा—

"वेटा ! यह राउल कौन है ? इसी की बदौलत आज हम लोग मुख-दर्शन कर सके हैं। अकारण ही हमारा हित करने वाला कौन है यह ?"

रत्नपाल ने वताया —

"तात ! साधु-सन्त तो वैसे भी अकारण ही सबका हित करते हैं। वैसे यह हमारा निकट स्वजन-सा है।"

फिर रत्नपाल ने आदि से अन्त तक राउल का परिचय वताया अपने माता-पिता को। इस परिचय कथन में स्वर्ण-द्वीप की यात्रा और रत्नवती के साथ विवाह करने की सब बातें आ गईं। यों ही तीन पहर वीत गए। फिर तो वाहन आदि आ गए। वाद्य ध्वनियों के साथ जिनदत्त-भानुमती का नगर-प्रवेश हुआ। रत्नपाल अपनी माता की गोद में वैठा था। जिनदत्त का एक हाथ उसके सिर पर था। खुले रथ में वैठे थे तीनों। ऐसा दृश्य था, मानो शिव-पार्वती के वीच उनके ज्येष्ठ-पुत्र कार्तिकेय वैठे हों। आगे आगे वाजे वजते जाते थे। सब के मन में हर्ष और उत्साह था।

किसी भी भावावेग की गति एक-सी नहीं रहती। हर्ष-शोक धीरे-धीरे घटते ही हैं। हर्ष स्थिर हुआ। जिनदत्त-भानुमती अपने भवन में व्यवस्थित हुए। जिनदत्त के परिवारी, सुहृद मित्र उसे आ-आ कर वधाई देते थे। सबकी वधाइयों में विशेष रूप से रत्नपाल की प्रशंसा ही रहती थी। लेकिन राउल कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था।

ऊंचे तख्त पर मसनद के सहारे जिनदत्त अपने पुराने स्थान पर वैठा था। वरावर में सेठानी भानुमती थी और वहीं

रत्नपाल भी बैठा था । एकान्त था । तभी राउल आया । उसे देखते ही पूछा रत्नपाल ने—

"तुम कहाँ चले गये थे ? इस संगम के तुम्हीं तो कर्त्ता-धर्त्ता थे और तुम्हीं गायब हो गए ?"

मुस्कुराते हुए राउल बोला—

"मैं तुम्हारे पिता के उस धन की सार-सम्हाल में लगा था, जो वे वसन्तपुर से साथ लाये थे । करोड़ों के धन की व्यवस्था में समय तो लगता ?"

इस अनहोनी बात से जिनदत्त बहुत चकरा गया । रत्नपाल भी चक्कर में पड़ा । जिनदत्त ने पूछा—

"यह आप क्या कह रहे है योगिश्रेष्ठ ? मैं वसन्तपुर से क्या लाया था ? करोड़ों का धन कहते हैं आप ? क्या मुझ फटे-हाल की हँसी उड़ा रहे हैं ?"

राउल बोला—

"श्रेष्ठिन् ! योगी-यती मिथ्या तो कहते ही नहीं । मैं भी क्यों मिथ्या कहूँगा ? फिर यह भी तो सोचो कि क्या मैं आपकी हँसी उड़ाऊँगा ? यदि आप अपने भोलेपन के कारण अपने उपार्जित धन से अनभिज्ञ रहे तो उसमें मेरा दोष है ?

"श्रेष्ठिन् ! सुनें आप । श्रेष्ठिनन्दन ...
कि आपके पिता कितने भोले हैं और माता
सुनें कि सेठजी सबको अपने जैसा ही भला

"श्रेष्ठिन् ! वसन्तपुर में निर्मा
को बेचते थे, क्या वह काष्ठ आपका
लगायें कि बारह वर्ष में कितना काष्ठ

जिनदत्त बोला—

"मुझे सब मालूम है। लेकिन वह संग्रहीत काष्ठ मेरा उपा-र्जन कहाँ रहा? उसका मूल्य तो मैं नित्य ले लेता था। उसी के बदले, जो सोलह मेंमुदी मुझे प्राप्त होती थी, उससे मेरी दाल-रोटी चलती थी।"

"तो क्या आपके उस एक गट्ठर का मूल्य सोलह मेंमुदी ही था? आप नहीं जानते, पर धनदत्त जानता था कि मैं जिनदत्त से सोलह मेंमुदी में मैं सहस्रों स्वर्णखण्डों का माल नित्य लेता हूं। वह तो अमरचन्दन था। उसने आपको ठगा था। लेकिन अधार्मिक का अन्त ऐसा ही होता है, जैसा धनदत्त का हुआ।"

"श्रेष्ठिन्! सैंकड़ों गाड़ियां भर कर मैं जो काष्ठ [illegible]-पुर से लाया था, वह वही बावना चन्दन था, जो मैंने धनदत्त से निकलवाया था।"

"अरे! यह सब कैसे हुआ? रत्नपाल ने कहा—"क्या कर दिया आपने।"

"वह सब भी बताऊँगा।" राउल ने कहा—"पहले मेरे मुनीमों को भेजकर उस अमरचन्दन की बिक्री का धन मंगवा लें। शेष गोदामों में भरवा दें।"

रत्नपाल ने सेवकों को आदेश दे दिया। अब राउल ने धन-दत्त से बावना चन्दन लेने की कहानी सुना डाली। जिनदत्त अब भी चकरा रहा था। अन्त में एक निःश्वास छोड़कर उसने कहा—

"धनदत्त ऐसा धूर्त्त था? मुझे क्या पता था? मैं तो उसे बड़ा धर्मात्मा समझता था।"

राउल बोला—

"सभी सफेद-सफेद दूध नहीं होता। धर्मात्मा बनकर ठगने वालों की गिनती नहीं।"

ऐसे ही कई दिन बीत गए। अपने माता-पिता के मिलने की खुशी में रत्नपाल ने एक बहुत बड़े प्रीतिभोज का आयोजन किया। इस भोज का आतिथेय जिनदत्त ही था। सबने खाया और सराहा। अब तो दिन ऐसे बीतते थे कि बीतते मालूम ही नहीं पड़ते थे। रत्नपाल भानुमती और जिनदत्त के लिए अब भी दूधमुंहा बच्चा था। वे उसे एक पल भी अपने से अलग नहीं करते थे। व्यापार के काम से यदि रत्नपाल कहीं जाना चाहता तो जिनदत्त नहीं जाने देता। कहता—

"सब हो जायगा। तू यहीं बैठ। मैंने अभी तुझे अच्छी तरह देखा भी तो नहीं है।"

भानुमती कहती—

"बड़ी मुश्किल से मैंने पाया है तुझे। कहीं नहीं जाने दूंगी।"

रत्नपाल अपने माता-पिता के इस लाड़ पर न्योछावर था। वह भी कहीं नहीं जाता था उन्हें छोड़कर। इसी क्रम में रत्नपाल ने एक दिन राउल से कहा—

"राउल! मैं बड़े धर्मसंकट में हूं। तुम्हीं बताओ क्या करूं? माता-पिता तो मुझे तनिक देर भी कहीं नहीं जाने देते। कालकूटद्वीप वे कैसे जाने देंगे? एक-डेढ़ वर्ष का वियोग वे कैसे सहन करेंगे? लेकिन जाना तो है ही। मैं राजा कृष्णार्जुन को वचन देकर आया था कि अपना काम पूरा करके मैं शीघ्र को लेने आऊंगा।"

राउल ने कुछ झिड़की-सी देते हुए कहा—

"अब आप ही सोचें कि राजा कृष्णागन की बात न मानकर आपने कितना अनुचित किया ? उन्होंने आपको कितना समझाया था कि आने-जाने में साल भर लगता है। फिर लौटना मुश्किल होगा। लेकिन आपने उनकी बात नहीं मानी और रत्नवती को साथ नहीं लाये। अब तो यही एक उपाय है कि मैं ही कालकूटद्वीप जाऊँ और रत्नवती को साथ ले आऊँ।"

"तुम जाओगे ? नहीं-नहीं। तुम नहीं जाओगे ?" रत्नपाल ने राउल से कहा— 'यह तो और भी अनुचित होगा। मेरे माता-पिता को तुम ले आये, यही क्या कम है ? कालकूटद्वीप तो मैं ही जाऊँगा। यह काम मेरा ही है। मैंने रत्नवती का हाथ पकड़ा है। और फिर मैंने उसके पिता को वचन भी यह दिया था कि मैं ही आऊँगा।"

"लेकिन तुम्हारे माता-पिता इतने लम्बे प्रवास की अनुमति कदापि नहीं देंगे।"

रत्नपाल बोला—

"हाँ, आशा तो नहीं कि वे सहज ही अनुमति देंगे, पर मैं उन्हें राजी कर लूँगा, इतना भरोसा भी मुझे है। अपनी सौगंध खिला दूँगा तब तो मानेंगे ? आखिर रत्नवती मेरी प्राणप्यारी है। उस बेचारी ने मेरे लिए इतना लम्बा वियोग सहा।" कहते-कहते रत्नपाल का कंठ भर आया। राउल के मन में भावना विभोर हो गई—'मेरे स्वामी मुझे इतना चाहते हैं। धन्य हूँ मैं।'

कुछ देर मौन रहने के बाद राउल ने कहा—

"तो फिर चले जाना। आज तो जा नहीं रहे। कल [illegible]"

के कक्ष में चलें। मैं अभी अपना एक काम करके आपके पास आता हूँ। प्रतीक्षा करना। रहस्यमय काम है।"

"तुम्हारे तो सभी काम रहस्यमय होते हैं।" रत्नपाल ने कहा—"ऐसा क्या रहस्य है, जो अभी नहीं बता रहे ?"

राउल बोला—

"रहस्य भी समय पर खोला जाता है। आज के बाद मेरे सभी रहस्य समाप्त हो जायेंगे।"

मुस्कुराया रत्नपाल। बोला—

"तो तुम भी मेरे साथ कालकूटद्वीप चलोगे ही। लेकिन वहीं मत रह जाना। रत्नवती के साथ ही आना। आखिर तो तुम रत्नवती के सखा हो।"

कुछ न कह राउल नीचे के खण्ड में चला गया। नीचे से जिनदत्त की आवाज आई—

"रत्न बेटा ! वहाँ क्या कर रहे हो ? नीचे कब आओगे ?"

रत्नपाल ने ऊपर से ही उत्तर दिया—

"थोड़ी देर में आऊँगा पिताजी ! राउल से कुछ जरुरी बातें कर रहा हूं।"

इधर राउल नीचे गया। कक्ष का द्वार बन्द कर लिया जय जिनेन्द्र कहकर झोली में हाथ डालकर योगीप्रदत्त श्याम जड़ी निकाली। जड़ी सूंघी तो उसका नरत्व चला गया। अब राउल—बालयोगी राउल, अपने मूल रूप रत्नवती में बदल गया। स्नानागर में जाकर स्नान किया रत्नवती ने। वस्त्र पहने। गुलाबी कंचुक और हरी साड़ी। बिम्बोष्ठी रत्नवती ने अपने अधरों को अधर राग से रंजित किया। भ्रूमध्य के ऊपर लाल बेंदी लगाई। आंखों में अंजन-रेखा भी खींच ली। सभी

आभूषण पहने। ऐसी लगी रत्नवती कि स्वर्ग की कोई देवी उतर आई हो। फिर धीरे-धीरे नूपुरों की झनकार करती हुई सीढ़ियों पर पग रखते हुए ऊपर गई। जाकर कक्ष-द्वार पर खड़ी हो गई। रत्नपाल ने देखा तो भौचक्का हो गया। [illegible] पूछा—

"कौन हो तुम? स्वर्ग की देवी! तुम यहाँ कैसे आ गई?"

मुस्कुराती रही रत्नवती और मुस्कुराते हुए ही [illegible] प्रविष्ट हो गई। कुछ कहे बिना ही रत्नपाल के [illegible] गई। हड़बड़ाकर रत्नपाल उठ खड़ा हुआ और बोला—

"अपना रहस्य बताओ सुन्दरी! मुझे चक्कर में क्यों डाल रही हो? मैं विवाहित हूं। तुम्हारे योग्य नहीं!...सीढ़ियाँ तो नीचे हैं। तुम ऊपर कैसे आ गई?"

अब बोली रत्नवती—

"आर्यपुत्र! अपनी विवाहिता रत्नवती को भी नहीं पहचाना! इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा? जिसके साथ [illegible] हुई, जिसने पहली रात आपको अपनी कल्पना से [illegible] और कुशा के प्रश्नोत्तरों का अभिनय करके दिखाया था, [illegible] रत्नवती को भूल गये?

"तो तुम रत्नवती हो? हाँ, रत्नवती तो हो ही। पहचानूंगा क्यों नहीं? पहचान लिया मैंने। पहली [illegible] पहचान गया था। पर सोचा था कि रत्नवती क्यों होगी? [illegible] यहाँ क्यों आयेगी? इसलिए तुम्हें कोई और समझा। [illegible] मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा? तुम तो कालकूटद्वीप [illegible] तुम यहाँ कैसे आ......?"

बीच में ही बोली रत्नवती—

"अभी-अभी राउल कहकर गया था कि आज के बाद मेरे सभी रहस्य समाप्त हो जायेंगे। सो राउल के सभी रहस्य अब समाप्त हो गए। पुरुषवेश में मैं ही राउल बालयोगी थी। एक योगी की कृपा से मेरे पिता ने इस वेश में मुझे आपके साथ भेजा था।"

भावावेश में रत्नपाल ने रत्नवती को वक्ष से लगा लिया और बोला—

"प्रिये! तुम बहुत कुछ हो। अब क्या कहूँ तुमने? तुमने जो-जो काम कर दिखाये, वे अबला बल से कितने ऊपर थे? कुछ ठिकाना है तुम्हारे अबला बल का? वसन्तपुर जाना, मेरे माता-पिता को ले आना। धूर्त धनदत्त को पाठ पढ़ाना। इतनी लम्बी पदयात्रा तुमने स्त्री होकर की?"

रत्नवती बोली—

"पुरुष बड़े चतुर होते हैं। मेरी प्रशंसा करके ही मुझे बह-लाना चाहते हैं। पर मैं आपसे नहीं बोलूँगी। आपने तनिक भी यह नहीं सोचा कि जिसका पति परदेश में होता है, उस पर क्या बीतती है? प्रोषितपतिका की रातें कैसे कटती हैं, आप निष्ठुर ने तनिक भी नहीं विचारा और मुझे छोड़कर चले आये। आपने कुलदेवता की पूजा करने के बाद मिलन-सुख देने को कहा था तो क्या अकेले ही कुलदेवता की पूजा करते? ऐसे बहानेबाज हैं आप?"

रत्नपाल ने पुनः आलिंगन किया रत्नवती का! बन्धन आलिंगन। फिर बोला—

'अब तो तुम रूठोगी ही। क्योंकि तुम्हारे रूठने में भी प्यार

है। हे मानिनी ! मैं तुम्हारे मानधन की रक्षा करूंगा। लेकिन यह भी तो सोचो कि सदा तुम मेरे प्राणों में बसी रही हो।"

कुछ देर मौन रहकर रत्नपाल ने पुनः कहा—

"हाँ, उस रहस्य को तो बताओ कि तुम नारी से नर कैसे बनी। राउल के रूप में तो मुझे तनिक भी सन्देह नहीं हुआ कि तुम रत्नवती भी हो सकती हो।"

रत्नवती ने कहा—

"यह सब मेरे पिता का चातुर्य है। एक योगी से उन्हें नारी से नर और नर से नारी बनाने वाली दो जड़ियाँ प्राप्त थीं और पुरुष बनाकर मुझे आपके साथ भेज दिया।"

हँसकर बोला रत्नपाल—

"तभी तो तुम्हारे पिता धूर्त-ठगों के ऊपर शासन करते हैं। उनके चातुर्य का तो जवाब नहीं। इन्हीं सब कारणों से कालकूटद्वीप और वहाँ के राजा कृष्णायन प्रसिद्ध हैं। किस चातुर्य से उन्होंने मुझे तुम्हारे साथ भेज दिया ?"

"लेकिन यह चातुर्य तो आपके हित में ही रहा।"

फिर बातें नहीं हुईं। रत्नवती को लेकर रत्नपाल नीचे आया। जिनदत्त और भानुमति ने देखा रत्नवती को तो आपस में काना-फूसी करते हुए मुस्कुराये। धीरे से जिनदत्त ने भानुमती से पूछा—

"रत्न के साथ यह कौन सीढ़ियां उतर रही है ? कहाँ से आ गई यह देवी-सी ?"

भानुमती बोली—

"जहाँ आप हैं, वहीं मैं हूँ। मैं क्या बताऊँ ? पास आने दो। वही बतायेगा आपका लाड़ला।"

पास आ गए रत्नपाल और रत्नवती। आते ही रत्नवती ने भानुमती-जिनदत्त के चरण छूए। परिचय दिया रत्नपाल ने। एक ही बार में बहुत कुछ कह दिया—

"आपकी पुत्रवधू रत्नवती है। कालकूट के राजा कृष्णायन की पुत्री रत्नवती। राउल के रूप में यह हमारे साथ थी।"

"ऐसी बात?" चक्कर में पड़ा जिनदत्त रत्नपाल से बोला—

"मैं भी चक्कर में पड़ा था तात! अब मैं सब कुछ बताता हूँ आपको।"

सब कुछ बताया रत्नपाल ने। बड़े प्रसन्न हुए उसके माता-पिता। भानुमती ने रत्नवती को अपनी गोद में बैठाया और जिनदत्त ने रत्नपाल को। देखने लायक दृश्य था। भानुमती ने आशीष दिया—

"बहू! तू पुत्र और पौत्रवती हो।"

सकुचा गई रत्नवती। सास की गोद में से उतरी और भीतर चली गई। फिर तो भानुमती सबसे कहती फिरी। एक बार फिर उत्सव हुआ। जिनदत्त की पुत्रवधू का मुखदर्शन करने जिनदत्त के परिजन और मित्र आये। बधाइयाँ दीं। मुँह-दिखाई में धन दिया। वरवधू को आशीष देने की औपचारिकता कई दिन चली। ऐसा उत्सव हुआ, जैसा रत्नपाल के विवाह के समय होना चाहिए था।

× × ×

जिनदत्त के दिन फिर सुदिन बन गए। पुरिमताल नगर में अब वह पहले से अधिक सम्मानित था। उसके नाम से चलने वाले पांथागार, सदाव्रत, दानशालाएँ, जलकुटीर आदि सब चलने लगे। रत्नपाल जैसे पुत्र और रत्नवती जैसी पुत्रवधू को

पाकर कौन माता-पिता अपने को धन्य नहीं मानेंगे ? भानुमती और जिनदत्त ऐसे ही भाग्यशाली माता-पिता थे ।

जिनदत्त का व्यापार अब बड़े जोरों पर था । अब सब काम रत्नपाल ही सम्हालता था । अब घर की मालकिन रत्नवती थी । भानुमती-जिनदत्त अब निश्चिन्त होकर धर्माराधन करते थे । खुशी की बात यह हुई कि रत्नवती अब पुत्रवती बन गई थी । रत्नपाल का आत्मज वैसे तो पाँच धायों के हाथों में ही पल रहा था, पर भानुमती ही उसे गोद में लिये-लिये फिरती थी । उसे गोद में लेकर सोचती थी भानुमती—

'बिल्कुल रत्नपाल को गया है । ऐसी ही आँखें हैं । नाक भी वैसी ही है । मैं अपने पुत्र का बचपन नहीं देख पाई तो अब इस पौत्र का ही देखूँगी । मैं सोचूँगी कि मैं रत्नपाल का ही लालन-पालन कर रही हूँ । पुत्र और पौत्र में अन्तर ही क्या है ? जैसे मूल से ब्याज ज्यादा प्यारा होता है, वैसे ही पुत्र से पौत्र ज्यादा प्यारा होता है ।'

ऐसे ही सुख स्वप्न देखते हुए भानुमती के—उसी के क्या सबके दिन बीत रहे थे । संसार की सब क्रियाएँ स्वप्न ही तो हैं । पर स्वप्न देखते समय कौन सोचता है कि हम स्वप्न देख रहे हैं ? स्वप्न का पता तो जागने पर ही लगता है । कुछ स्वयं जागते हैं और कुछ जगाये जाते हैं । कभी-न-कभी जागना हरएक को है । लम्बी नींद लेने वाले भी कभी तो जागते ही हैं ।

ऊँची-नीची जीवन डगर के चढ़ाव-उतारों को पार करके जिनदत्त के जीवन की अब एक राह बन गई थी ।

9

एक रात की बात ! ऐसी एक रात सभी भव्य जीवों के जीवन में आती है। बात एक रात की नहीं, एक क्षण की है। सभी भव्य शुभ जीवों के जीवन में ऐसा एक क्षण आता है, जो क्षण एक रात जिनदत्त के जीवन में आया। रात्रि का तीसरा प्रहर था। जिनदत्त की आँख खुल गई। नींद नहीं आई फिर। सोचने लगा जिनदत्त—'ओह, ऐसी जाने कितनी रातें बीत गईं। आधा जीवन तो मैंने इन रातों में सोकर ही बिताया। दिन में भी सोता रहा मैं तो। जागते हुए भी सोया। अब तो जागना चाहिए। तीन पन यों ही मोहनिशा में सोते बीत गए। कर्मों का क्षय फिर कब करूँगा ? जीवन में अच्छे दिन भी खूब देखे और बुरे भी ऐसे देखे कि सोलह वर्ष तड़फड़ाता रहा। आज मैं फिर सुखों में हूँ। पर क्या ये पौद्गलिक सुख स्थायी रहेंगे ? कभी रहे भी हैं स्थायी ? अब तो मुझे अपनी आत्मा का उद्धार करना ही चाहिए।

यों प्रतिबुद्ध होकर जिनदत्त उठकर कक्ष में टहलने लगा। भानुमती को जगाकर कहा—

"रत्नमाल ! अब तो रत्नपाल का पुत्र—तेरा पौत्र बड़ा हो गया है। पढ़-लिख गया वह। तुमने उसे खूब खिलाया। उसके बचपन में तुमने रत्नपाल का बचपन भी देख लिया। अब क्या इच्छा है तुम्हारी ? यदि कोई इच्छा हो तो तुम कहो। मैंने तो

कर्मों का नाटक देख लिया। आचार्य धर्म-घोष आये हैं। सो मैं तो प्रव्रजित होऊँगा।"

बोली भानुमती—

"मेरे मन की बात आपने कह दी तो इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि आप ही संयम ले सकते हैं, मैं नहीं? मैं आपकी जीवनसंगिनी हूँ तो धर्मसंगिनी भी तो हूँ। आपके साथ वसन्तपुर नहीं गई क्या? क्या सोलह वर्ष मैं लकड़हारे की पत्नी बनकर नहीं रही?

"स्वामी! मैं भी तो यही चाहती हूँ, जो आप चाहते हैं। मैं भी चारित्र ग्रहण करूँगी।"

"तो फिर चलें दोनों चलेंगे। सवेरा हुआ चाहता है। मोह की रात बीत गई प्रिये।"

नित्य कर्म से निवृत्त होकर जिनदत्त ने रत्नपाल को बुलाया। सबको इकट्ठा किया। फिर सबको अपने मन की बात बताई। रत्नपाल मोहवश होकर रोने लगा। रोकने लगा जिनदत्त को। रोकर बोला—

"इतना प्यार करते थे मुझ पर कि मुझे आँखों से ओझल नहीं होने देते थे और आज छोड़ जाओगे मुझे? ऐसे निष्ठुर तो आप नहीं थे तात!

"अम्मा! तुम भी मुझे छोड़ कर जा रही हो? तुम तो कहती थीं कि रत्न तू मेरे लिए सदा सत्ताइस दिन का दूधमुँहा ही रहेगा, तो क्या आज मैं बड़ा हो गया?

"तात-मात! दोनों सुनें। मैं आपको नहीं जाने दूँगा। नहीं जाने दूँगा।"

"तू नहीं रोक पायेगा रत्न।" जिनदत्त ने कहा—"जब काल आयेगा, तब रोकेगा तू हमें ? तू कहेगा कि वह तो विवशता होगी। तो मेरे रत्न! काल की उसी विवशता को जीतने के लिए तो संयम है। एक दिन किंचित् ज्ञान के प्रकाश से तुमने यह जाना था कि मन्मन तुम्हारे पिता नहीं हैं, तो आज उसी ज्ञानालोक में देख कि मैं भी तेरा पिता नहीं हूं। भानुमती भी तेरी माता नहीं है। जिस शरीर-रूप के कारण तू हमें माता-पिता समझता है, वह शरीर तो नश्वर है झूठा है। आत्मा ही सच्ची है और आत्मा का न कोई पुत्र होता है और न पिता।

"मेरे बेटे! शरीरधर्म से मैं तेरा पिता हूं तो बता इस पिता का कौन-सा कार्य अब शेष रह गया है। जाने दे मुझे। मोह को त्याग। अनुमति दे। तेरे लिए भी यही मार्ग है। उद्धार का यह मार्ग तो सबके लिए खुला है। यदि तू हमें रोकेगा तो तेरा पुत्र तुझे कैसे अनुमति देगा ?"

रत्नपाल का मोहभंग हो गया। जिनदत्त की बातों ने उसे ज्ञान का प्रकाश दिया। अनुमति दी रत्नपाल ने। माता-पिता का दीक्षा महोत्सव किया श्रेष्ठिनन्दन रत्नपाल ने। जिनदत्त ने आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षा अंगीकार कर ली। श्रेष्ठी जिनदत्त अब मुनि जिनदत्त थे और सेठानी भानुमती थी साध्वी भानुमती।

दोनों साधकों ने गुरु के साथ विहार किया। पुरिमताल वासियों ने श्रद्धाभाव से विदा किया अपने नगर के दो भव्य जीवों को। वर्ष बीते फिर तो। मुनि जिनदत्त और साध्वी

भानुमती ने कठोर चारित्र का पालन करते हुए शरीर त्यागा और दोनों विमानवासी देव बने।

× × ×

रत्नपाल के पुत्र का अब विवाह हो गया था। उसने अपना सब कार्यभार अपने सुयोग्य पुत्र पर छोड़ दिया और पुत्रवधू पर गृहभार छोड़कर रत्नवती भी भारमुक्त हो गई थी। इनके लिए भी अब कुछ करना शेष नहीं था। बड़े सुख में वर्ष बीत रहे थे। इसी बीच अवधिज्ञानी आचार्य अमितगति पुष्पिताल नगर में आये। राजा शूरसेन और समस्त राज-परिवार मुनि की देशना सुनने गया। अनेक नगरवासी गए। रत्नपाल और रत्नवती भी गए। संसार की नश्वरता पर मुनि ने प्रभावपूर्ण देशना दी थी। कर्मों के नाटक का यथार्थ चित्रण किया आचार्य अमितगति ने। रत्नपाल के हृदय में एक-एक बात उतरती चली गई। देशना की समाप्ति पर उसने मुनि से पूछा—

"प्रभो ! अपने जीवन के चढ़ाव-उतार को देखकर मैं जान गया हूँ कि पूर्वभव में मैंने दोनों ही तरह के कर्म किये हैं– शुभ और अशुभ दोनों ही।

"महामुने ! अब मुझे यह जानने की जिज्ञासा है कि किन अशुभ कर्मों के प्रभाव से मैं सोलह वर्ष तक अपने माता-पिता से वंचित रहा और उनके लाड़-प्यार से अछूता। क्रीतदास बना मैं श्रेष्ठी मन्मन का। इसके अतिरिक्त किन शुभ कर्मों के कारण मैं राजजामाता बना और बना अपार सम्पत्ति का स्वामी ?"

धीर गंभीर वाणी में मुनि बोले—

"श्रेष्ठिनन्दन ! तुम अपने पूर्वभव की एक झाँकी देख लो।

फिर तुम्हारी सब शंकाओं का समाधान हो जायगा। पूर्वभव के जीवन का वह पार्श्व मैं तुम्हें सुनाता हूँ, तुम्हारे प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध है।

"रत्नपाल ! पूर्वभव में तुम जिस माता के पुत्र थे, उस ध निष्ठा ने मुनियों को आहार दान दिया। तुम्हें यह पात्रदा बहुत अखरा और तुमने माता को कोसा। तुमने कहा कि इन निठल्ले मुनियों को दान देने से क्या लाभ ? दान देने से तो प्रत्यक्ष हानि स्पष्ट दीखती है। तब तुम्हारी विवेकमयी माता ने तुम्हें पहले तो दान की महिमा बताई और फिर उसने पात्र-दान का माहात्म्य बताया। उसने कहा कि जब क्षेत्र में बीज बोते हैं तो प्रत्यक्ष हानि दीखती है। व्यर्थ ही अन्न मिट्टी में मिल जाता है। पर क्या वह हानि होती है ? सहस्रों गुना अन्न धरती देती है। यही बात दान की है। फिर पात्रदान का तो कहना ही क्या है ! अपनी आत्मा का उद्धार करने वाले मुनि अपनी वाणी से हम सब संसारियों का भी उद्धार करते हैं। ऐसे मुनियों को दान देना तो महाफल का दाता है।

"रत्नपाल ! जब तुमने अपनी माता की विवेकपूर्ण वाणी सुनी तो तुम्हारा अज्ञान मिट गया और तुममें धर्मरुचि जागी। तब तुम भी श्रद्धा-पूर्वक मुनियों को दान करने लगे। एक ओर पात्रदान की निन्दा और फिर पात्रदान का सक्रिय समर्थन। अशुभ और शुभ इन दोनों कर्मों के बन्ध से तुमने पहले कष्ट उठाये। सोलह वर्ष तक माता-पिता से बिलग रहे। तुम्हारा पोत सागर में तूफान से घिर गया। फिर शुभ बन्ध के फल-स्वरूप तुमने ऐश्वर्य भी पाया।"

| छाया

रत्नपाल के पूर्वभव पर किंचित् प्रकाश डालने के बाद मुनि मौन हो गए और रत्नपाल बार-बार अपने पूर्वभव के बारे में सोचता रहा। कर्मों की स्पष्ट आँख-मिचौनी देखते-देखते उसे वैराग्य हो गया। रत्नवती का हृदय भी वैराग्यपूरित हो गया। मुनि की वन्दना कर दोनों घर आये। सब भार पुत्र पर छोड़ा और दोनों भव्य जीवों ने संयम ग्रहण कर लिया।

मुनि रत्नपाल और साध्वी रत्नवती ने तप की अग्नि में अपने शरीर को तपाया। बड़ी निष्ठा से महाव्रतों का पालन किया और जब शरीर छोड़ने का समय आया तो दोनों ने समाधि-पूर्वक नश्वर देह त्यागी। दोनों ब्रह्मदेवलोक में देव बने। कालान्तर में पुनः महाविदेह क्षेत्र में देह धारण करके ये दोनों भव्य आत्माएँ मोक्ष प्राप्त करेंगी।